आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्रकारिता और 'हिन्दी प्रदीप'

डा० केदारनाथ सिंह के निर्देशन
में एम० फिल० की उपाधि
के लिए प्रस्तुत किया गया
लघु शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुत कर्त्री
राधिका केशरी
शोध-छात्रा, भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००६७
१९७९

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
भारतीय भाषा केन्द्र

न्यू महरौली रोड
नई दिल्ली - 110067
दिनांक

प्रमाणित किया जाता है कि सुश्री राधिका केसरी द्वारा प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध - ''आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्रकारिता और हिन्दी प्रदीप'' में जिस सामग्री का उपयोग किया गया है उसका इस अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय की ऐसी उपाधि के लिये उपयोग नहीं किया गया है ।

Mohd. Hasan
17.5.79
अध्यक्ष,
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

(केदार नाथ सिंह)
निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली 110067

विषय-क्रम

भूमिका — पृष्ठ क - ध

पहला अध्याय

हिन्दी पत्रकारिता : पृष्ठभूमि तथा विकास — पृष्ठ 1 - 31

राजनीतिक - सामाजिक उथल-पुथल, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, विषम परिस्थितियों के बीच उभरती हुई हिन्दी पत्रकारिता

दूसरा अध्याय

आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्रकारिता और 'हिन्दी प्रदीप' — पृष्ठ 32- 76

भारत में प्रेस का आगमन तथा आरम्भिक समाचार - पत्र, भारतेन्दु - युग से पूर्व हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र, हिन्दी के साहित्यिक पत्रों का आरम्भ — (क) कविवचन सुधा , (ख) हरिश्चन्द्र मैगजीन , (ग) हिन्दी प्रदीप, (घ) भारत मित्र, (ङ) सारसुधानिधि, (च) उचितवक्ता, (छ) आनंदकादम्बिनी, (ज) ब्राह्मण , (झ) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (ट) सरस्वती, (ठ) हिन्दी प्रदीप

तीसरा अध्याय

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य और भाषा — पृष्ठ 77 - 129

नई निबंध शैली का जन्म, हिन्दी प्रदीप और आलोचना का आरम्भ, हिन्दी प्रदीप : हिन्दी में सामाजिक उपन्यास का उद्भव, हिन्दी प्रदीप : युगीन परिस्थितियों के भीतर से उभरता हुआ नया हिन्दी नाटक, कविता : नई भाषा चेतना का विकास, भाषा : बड़ी बोली का परिष्कार तथा परिमार्जन

उपसंहार — पृष्ठ 130- 138

सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची — पृष्ठ 1 - 3

—

भूमिका

वर्तमान युग जन-संचार के साधनों के विकास का युग है । इन साधनों में पत्रकारिता संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है । क्योंकि वर्तमान समाज की सारी स्थितियों को पत्रकारिता के माध्यम से जितनी स्पष्टता तथा शीघ्रता के साथ व्यक्त किया जा सकता है उतना किसी अन्य माध्यम से नहीं । कहना न होगा कि वर्तमान समाज को पत्रकारिता के माध्यम से सम्पूर्ण रूप से सामने लाया जा सकता है ।

यह बात सिर्फ आज के सन्दर्भ में ही सही नहीं है बल्कि पत्रकारिता अपने इस दायित्व का वहन भारतेन्दु - युग (जिसे पत्रकारिता के विकास की दृष्टि से आरम्भिक युग भी कहा जा सकता है) से ही करती चली आ रही है । उस युग में प्रेस के विकास के साथ ही पत्रकारिता का विकास भी हुआ । तत्कालीन युग पुनर्जागरण का युग था, जिसमें एक ओर सामाजिक कुरूप - प्रक्षालन का महत् उपक्रम चल रहा था, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हो रहा था तो दूसरी ओर तत्कालीन साहित्यकारों द्वारा हिन्दी साहित्य को समाज की नयी आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जा रहा था । कहना न होगा कि आधुनिक साहित्य के निर्माण तथा विकास में पत्रकारिता ने अहम् भूमिका निभाई । उस युग की पत्रकारिता में उस समय के सामाजिक यथार्थ की विभिन्न स्थितियों को आसानी से ढूँढा जा सकता है ।

यों तो हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में ही हो गया था किन्तु उसका विधिवत् क्रमिक विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हुआ । अतः इस युग को हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भिक विकास का काल कहा जाता है । इस युग में सामान्य पत्रिकाओं के साथ ही हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का भी आरम्भ और विकास हुआ । सन् 1868 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'कविवचन सुधा' से हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का आरम्भ मानना चाहिए ।

'इस युग में प्रकाशित होने वाली प्रमुख साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में, 'कवि-वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'हिन्दी प्रदीप', 'सार सुधानिधि', 'उचित-वक्ता', 'आनंदकादम्बिनी' तथा 'ब्राह्मण' आदि प्रमुख थीं । इनमें से 'हिन्दी प्रदीप' सबसे अधिक लम्बे समय तक निकला । यह पत्र पं० बालकृष्ण भट्ट के सम्पादकत्व में । सितम्बर 1877 से लेकर अप्रैल 1910 तक (बीच में तीन बार थोड़े - थोड़े समय के लिए बंद हुआ था) निकलता रहा ।' यह पूरा समय आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भिक विकास का काल था, जब हिन्दी साहित्य मध्ययुगीन मूल्यों से हटकर आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं की ओर बढ़ रहा था ।

ऐसी ही पत्रिका अपने युग को सम्पूर्ण रूप से सामने रखने में सक्षम सिद्ध होगी, जिसमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का सर्वांगीण विश्लेषण होगा । स्पष्ट है कि इसमें से किसी एक पक्ष को लेकर चलने वाली पत्रिका एकांगी होगी । इसमें दो मत नहीं हो सकता कि 'हिन्दी प्रदीप' भारतेन्दु - युग (आरम्भिक युग) का ऐसा ही पत्र था, जिसने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक गतिविधियों को अधिक से अधिक विश्लेषित करने की कोशिश की थी । क्यों कि 'हिन्दी प्रदीप' में न सिर्फ तत्कालीन ज्वलंत राजनैतिक - सामाजिक समस्याओं पर विचारोत्तेजक निबंध छपा करते थे बल्कि इसमें साहित्यिक समस्याओं की भी चर्चा होती थी । हिन्दी में ललित निबंधों की शुरुआत भी 'हिन्दी प्रदीप' से हुई । यही नहीं आधुनिक आलोचना का जन्म भी इसी पत्र से हुआ ।

'हिन्दी प्रदीप' आरम्भिक युग का प्रतिनिधि मासिक पत्र था । इस पत्र ने न सिर्फ उच्चकोटि के साहित्य की वृद्धि तथा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योग दिया बल्कि जनता में सामाजिक - राजनैतिक चेतना जगाकर उन्हें एक साथ ही सामन्तवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए भी प्रेरित किया ।

आज जब कि साहित्य और समाज के सवाल को जोर-शोर से उठाया जा रहा है, 'हिन्दी प्रदीप' ने बहुत पहले समाज और साहित्य के संबंध का उद्घाटन करते हुए, साहित्य के विकास को समाज के विकास के साथ जोड़ कर देखा था तथा अपनी सामग्रियों के द्वारा उस युग में इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया था ।

अतः समाज और साहित्य के सम्बन्ध के सन्दर्भ में आज 'हिन्दी प्रदीप' की सामग्रियों का उस युग की समस्याओं के साथ रखकर देखने की आवश्यकता थी, जो मैंने इस लघु शोध-प्रबंध में किया है।

इस सम्पूर्ण अध्ययन को प्रस्तुत करते समय मेरा उद्देश्य यह भी रहा है कि 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाश उस युग के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों तक फैला था, उसकी छान-बीन की जाय। यदि सामान्य रूप से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि 'हिन्दी प्रदीप' उस समय तीन महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा था — साहित्यिक पत्रकारिता के स्वरूप का विकास, नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों — निबंध, आलोचना, उपन्यास आदि का विकास और उस युग की सम्पूर्ण चेतना के विकास में योगदान। इन तीनों क्षेत्रों में 'हिन्दी प्रदीप' ने नए प्रतिमान स्थापित किए हैं। मेरा यह प्रयास रहा है कि इस पूरे विकास को ठोस प्राप्त तथ्यों के आधार पर देखते-परखते हुए उसका समुचित विश्लेषण किया जाय।

इस अध्ययन के लिए मैंने इस लघु शोध-प्रबंध को तीन भागों में बाँटा है। पहले अध्याय में उस युग की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है। दूसरे अध्याय में उस युग की विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं के बीच 'हिन्दी प्रदीप' की विशिष्टता बताई है। इसी अध्याय में 'हिन्दी प्रदीप' के मुखपृष्ठ की फोटोस्टेट कापी भी दी गई है। तीसरे अध्याय में साहित्य और भाषा की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' का मूल्यांकन किया गया है।

इस अनुसंधान और अध्ययन के दौरान मुझे तथ्य संकलन के लिए अनेक स्रोतों की छानबीन करनी पड़ी। 'भारती भवन लायब्रेरी' तथा 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय' (इलाहाबाद) में मुझे कुछ वर्षों को छोड़कर 'हिन्दी प्रदीप' की अधिकांश फाइलें प्राप्त हुईं। बची हुई फाइलों का अध्ययन मैंने माइक्रोफिल्म की सहायता से 'नेहरू म्युज़ियम लाइब्रेरी' (नई दिल्ली) के अन्तर्गत किया। इसके लिए उपर्युक्त संस्थाओं की आभारी हूँ।

इस लघु शोध - प्रबंध लिखने के दौरान विद्वत्तापूर्ण निर्देशन के लिए श्रद्धेय गुरुवर डा० केदार नाथ सिंह की अत्यंत आभारी हूँ। आदरणीय गुरुवर डा० नामवर सिंह की भी आभारी हूँ, जिनके द्वारा समय - समय पर दिए गए भाषणों से प्रेरणा मिलती रही। इसके साथ ही मैं डा० कृष्ण बिहारी मिश्र (कलकत्ता) के प्रति भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे भारतेन्दु युगीन पत्र-पत्रिकाओं के सन्दर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान कीं।

दिनांक 22-5-1979 — राधिका केशरी

पहला अध्याय

हिन्दी पत्रकारिता : पृष्ठभूमि तथा विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिकता का सूत्रपात आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ । आरम्भिक युग से पूर्व हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन संकीर्ण और मूल्य अभिव्यक्ति पा रहे थे । यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि देश में ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, जिसके फलस्वरूप समाज में तत्कालीन साहित्य में बदलाव घटित हो रहा था । साहित्य जो कि अब तक दरबारों की वस्तु था, जिसमें चमत्कार, अलंकरण तथा कवित्व के साथ ही आचार्यत्व का प्रदर्शन मुख्य प्रवृत्ति बन गया था, वह बदलती हुई परिस्थितियों के बीच जनसाधारण की समस्याओं, आशा-आकांक्षाओं से जुड़ गया, "अब साहित्य के केन्द्र में कोई राजा या रईस नहीं रहा बल्कि अपने घरों में बैठी हुई असंख्य अज्ञात जनता आ गई ।"[1], और साहित्य का उद्देश्य जनता की वाणी में, जनता की आशा-आकांक्षाओं को व्यापित करते हुए जनता का चित्त साधना हो गया । हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश की उल्लेखनीय विशेषता यह 'नयी लौकिकता' या लौकिक दृष्टि ही है । साहित्य में आए इस बदलाव को समझने के लिए हमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों को देखना होगा ।

रीतिकाल के समाप्त होते-होते सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य कायम हो चुका था । व्यापारी ईस्ट-इंडिया कम्पनी का सन् 1757 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के 'प्लासी' के युद्ध में हराकर राजनीतिक, आर्थिक दृष्टि से भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने का पहला प्रयास सफल रहा था । सन् 1764 की बक्सर की लड़ाई और सन् 1765 की 'बक्सर' की लड़ाई के बाद भारत का पूर्वी द्वार अंग्रेजों के लिए खुल गया । अंग्रेजों ने भारत

1- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, सन् 1969, पृ० 220

पर अपने नियंत्रण का उपयोग अपने निजी हितों की सिद्धि के लिए करना शुरू कर दिया । अंग्रेजी शासन के आरम्भ - काल में ही विलियम बोल्टस ने अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण नीति की ओर संकेत कर दिया था ।[1]

अनेकानेक परिवर्तनों के बावजूद ग्राम-समुदाय-व्यवस्था ब्रिटिश शासन के आरंभ काल तक कायम रही, जो खेतीबारी और उद्योग-धन्धों के घरेलू रूप पर आधारित था । जब आर्थिक विकास की दृष्टि से आगे बढ़े हुए अंग्रेजों ने मुगल-साम्राज्य के खंडहर पर अपने राज्य की इमारत खड़ी की तो उन्होंने भूमि-व्यवस्था के परम्परागत ढाँचे को तोड़कर भूमि का इस्तमरारी बन्दोबस्त, आरजी-जमींदारी बन्दोबस्त तथा रैयतवारी बन्दोबस्त करके खेतों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बदल दिया । जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़े पैमाने पर जमीन वास्तविक खेतीहरों के हाथ से निकलकर महाजनों, व्यापारियों, धनी किसानों के हाथ में चली गयी । वास्तविक किसान खेत-मजदूर बन जाने को विवश कर दिए गए । अंग्रेजों द्वारा स्थापित चलाए गए यातायात के आधुनिक साधनों ने खेत के व्यवसायिक बन जाने में मदद पहुँचाई ।

राजस्व वसूली की पुरानी पद्धति के साथ-साथ निश्चित नकद रकम के रूप में मालगुजारी लेने की प्रथा ने स्थिति को और भी विषम बना दिया । मालगुजारी लेने की इस प्रथा पर अकाल, महामारी आदि से हुई कम उपज का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । ऐसी विषम परिस्थिति में भी किसानों को बीज के अनाज बेचकर, कर्ज लेकर अथवा खेत रेहन पर रखकर लगान देना पड़ता था ।[2] भारी लगान, अकाल, महामारी ने भारतीय

1- ''अंग्रेज अपने बनियों और काले गुमाश्तों के जरिये मनमाने ढंग से यह तय कर देते थे कि माल बनाने वाला हर आसामी उन्हें कितना माल देगा और बदले में उसे कितना दाम दिया जायेगा ।'' -रजनीपामदत्त, भारत वर्तमान और भावी, पृ० 48 पर उद्धृत

2- '' अंग्रेजों द्वारा जीत लिए जाने के बाद (गाँव की) हालत एकदम बदल गयी, जबकि 1823 में 2,121 रुपये की मालगुजारी वसूल की गयी, जो न पहले कभी सुनी गई थी, न देखी गयी थी और गाँव का धर्मा 1817 का आधा रह गया ।''
-रजनीपामदत्त, भारत भावी और वर्तमान, पृ085

किसानों की कमर तोड़ दी। भारतेन्दु युग की साहित्यिक पत्रिकाओं में कर के भारी बोझ, अकाल, महामारी आदि के कारण जो दु:खद और भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसका उल्लेख प्रचुरता से हुआ है —

''इत अकाल उत टिकस लगायो, कर सब पै बरजोरी।
लेन अनाज ठीक कहुँ नाहीं मरत प्रजा सब ठोरी।
भीख माँगत ले झोरी।।''[1]

अंग्रेजी राज्य ने जहाँ सामूहिक स्वामित्व पर आधारित कृषि-जन्य अर्थव्यवस्था को तोड़ा, वहीं दूसरी ओर इंग्लैंड में बने माल से भारतीय बाजारों को पाटकर, भारत द्वारा निर्यात किए जाने वाले माल पर भारी चुंगी लगाकर और इंग्लैंड तथा अन्य यूरोपीय बाजारों में जाने से रोककर या एकतरफा स्वतंत्र व्यापार चालू करके करघे और चरखे पर आधारित भारतीय उद्योग को जड़ से नष्ट कर दिया, ''एक तरफ जहाँ इंग्लैंड के मशीन से बने कपड़े ने भारत के बुनकरों को बर्बाद किया वहाँ दूसरी तरफ मशीन के बने सूत ने भारत के चरखे वालों को मिटा दिया।''[2] पूँजीवाद के आगमन से इंग्लैंड तथा अन्य देशों में भी हाथ के करघे से काम लेने वाले बुनकर तबाह हुए थे, लेकिन वहाँ दस्त-उद्योग के विनाश के साथ ही साथ मशीन से चलने वाले उद्योगों की स्थापना ने उस कमी को दूर कर दिया था, परन्तु उपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी राज्य ने यहाँ के लाखों करोड़ों बुनकरों, दस्तकारों के तबाह हो जाने पर भी किसी नए प्रकार के उद्योग-धन्धों का विकास नहीं किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले इस ओर इशारा करते हुए लिखा था कि, ''क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमान दो सौ वर्ष हुए इनका अधिकार इस देश में है। इन्होंने हमारे धन-धान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाया और धन सब अपने हस्तगत किया, क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कलाकौशल्य से विमुख रखा और आप स्वतः व्यापारी बनकर सब देश का धन और धान्य अपने देश

1- डा0 रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ034 पर उद्धृत

2- रजनीपामदत्त, भारत : भावी और वर्तमान, पृ0 54

में से गए ।''[1] इस प्रकार जो भारत खेती और उद्योग-धन्धों की मिली-जुली व्यवस्था पर आधारित देश था, उसे अंग्रेजों ने जबर्दस्ती ब्रिटिश कल-कारखाने वाले पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से जुड़ा हुआ उपनिवेश बना दिया, जिसका काम इंग्लैंड को कच्चा माल सप्लाई करना और वहाँ के तैयार माल को खरीदना भर रह गया था ।

पूँजीवादी अंग्रेजीशासन से पूर्व का सामन्ती राजाओं का शासन भी यद्यपि निरंकुश और स्वेच्छाचारी था, फिर भी लोग समृद्ध और धन-धान्य पूर्ण थे । क्योंकि जहाँ एक ओर ये सामन्ती राजा राजतंत्र चलाने के लिए राजस्व वसूलते थे, वहीं दूसरी ओर खेती और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्य भी करते थे । परन्तु अंग्रेजों का उद्देश्य अधिक-से-अधिक राजस्व वसूलना तथा अपने कल-कारखानों के लिए कच्चा माल प्राप्त करना था । खेती और उद्योग-धन्धों की उन्नति में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी । इस प्रकार जो भारत निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन के अन्तर्गत भी फलता - फूलता रहा था, ब्रिटिश शासन का उपनिवेश बनकर दरिद्रता की सीमा को छूने लगा । अन्न उपजाकर देने वाले किसान, तन ढकने के लिए कपड़ा बुनकर देने वाले जुलाहे, जीवन की अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने वाले तमाम कारीगर, सब बेकार हो गए । नौबत भीख माँगने तक आ पहुँची । 9 मार्च 1874 को 'कविवचनसुधा' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था कि, '' कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले, आदि सब भीख माँगते हैं – खेती करने वालों की यह दशा है कि लँगोटी लगाकर हाथ में तुम्बा ले भीख माँगते हैं, जो निरुद्यम हैं उनको तो अन्न की प्राप्ति है ।''[2]

भारतेन्दु और उनके सहयोगी ब्रिटिश सरकार के शोषण पर आधारित आर्थिक नीति का पर्दाफाश यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कर रहे थे, तथापि शोषण का इतिहास बहुत पुराना था । सन् 1857 के पूर्व ब्रिटिश सरकार की इसी शोषण नीति ने व्यापक तौर पर, तथा भारत में साम्राज्यविस्तार की

1- डा0 रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ0

2- डा0 रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ0 18 पर उद्धृत

नीति के फलस्वरूप देशी राज्यों को हड़पने की कार्रवाइयों ने भारतीय जनता के मन में एक ओर जहाँ निराशा और निष्क्रियता का भाव भरा, वहीं उसने दूसरी ओर भीतर ही भीतर असंतोष और आक्रोश को भी जन्म दिया। भारतीयों का आक्रोश लंबे समय तक छुट-पुट विद्रोहों के रूप में प्रकट होता रहा, जिसने देशव्यापी 'जन-विद्रोह' के फूट पड़ने की आधार भूमि तैयार कर दी, '' 1857 तक मुश्किल से कोई साल बीता होगा जिसमें देश का कोई न कोई भाग सशस्त्र विद्रोह से प्रकम्पित न हुआ हो।''[1] अंग्रेजों ने इस जन-विद्रोह को यद्यपि 'गदर' की संज्ञा दी थी, तथापि यह व्यापक जन-विद्रोह था, जिसमें सैनिकों, कारीगरों, सन्यासियों और सामन्तों का पूरा सहयोग था। अंग्रेजों के विरुद्ध जनता का यह प्रथम विद्रोह असफल रहा था, '' फिर भी इस विद्रोह से यह बात साफ हो गयी थी कि सतह के नीचे-नीचे जनता में असंतोष और बेचैनी की कैसी भयंकर आग सुलग रही है..... ।''[2] लार्ड मेट-काफ़ (1835 - 36 में भारत के गवर्नर जनरल) इससे पहले लिख चुके थे कि ''पूरा भारत हर घड़ी यही मनाया करता है कि हमारा तख्ता उलट जाए। हमारी नाश पर हर जगह लोग खुशियाँ मनायेंगे,... और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो उस घड़ी को नजदीक लाने में अपनी पूरी ताकत लगा देंगे।''[3]

असफलता के बावजूद 1857 के विद्रोह के अनेक महत्वपूर्ण पक्ष थे। वास्तव में यह व्यापक राष्ट्रीय स्वरूप वाला संघर्ष था जो कि अंग्रेजों के 'भारत पर आधिपत्य के विरुद्ध और भारतीय स्वतंत्रता के हित में चलाया गया था।' इस विद्रोह ने भारतीयों में भाईचारे, राष्ट्रीयता और देश हित की भावना का बीज बो दिया, जो आगामी वर्षों में राष्ट्रीय-आन्दोलन को प्रेरणा देने वाला मुख्य स्रोत बना।

1- विपिन चन्द्र पाल, स्वतंत्रता संग्राम, पृ० 40

2- रजनीपामदत्त, भारत : भावी और वर्तमान, पृ० 119

3- वही, पृ० 119

'1857 के विद्रोह का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था - हिन्दू - मुस्लिम एकता ।' जनता के साथ ही सिपाहियों और सामन्तों ने भी इस विद्रोह में जुलकर भाग लिया था और सभी का एक ही लक्ष्य था - ब्रिटिश आधिपत्य को समाप्त कर देश में केन्द्रीकृत शासन की स्थापना । हिन्दू - मुसलमान विद्रोहियों ने एक स्वर में अंतिम मुगल बादशाह बहादुर-शाह 'जफर' को अपना सम्राट घोषित कर राष्ट्रीय एकता का परिचय दिया था । बाद में एक अंग्रेज अफसर ने हिन्दू - मुस्लिम एकता की ओर संकेत करते हुए लिखा था कि, ''इस मामले में हम मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ खड़ा नहीं कर सके ।''[1]

हिन्दी साहित्य पर 1857 की क्रान्ति का व्यापक प्रभाव पड़ा था । किन्तु भय और आतंक के कारण भारतेन्दु - युग के लेखकों का उसके बारे में खुलकर लिखना संभव नहीं था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा करते हुए, उसके आतंक की तरफ इशारा किया था -

''कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल नासी ।
जिन - भय सिर न हिलाय सकत कहुँ भारत वासी ।।''

किन्तु भारतीय जनता, निडर होकर अपने विद्रोही भावों को - ''फिरंगी लूट गयो रे बाबुस के बाजार में'',[2] जैसे लोक गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करती रही । इस जागृत जन चेतना को अंग्रेजों की कोई शक्ति दबा न सकी ।

सन् 1857 की क्रान्ति के बाद भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया । भारत का शासन ईस्ट - इंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर महारानी विक्टोरिया के हाथ में चला गया । ब्रिटिश शासन ने 'एक्ट फार दि बेटर गवर्नमेंट आव इंडिया' स्वीकार किया । महारानी विक्टोरिया ने भारतीय शासन की बागडोर संभालते ही पहले से ही तैयार किये गए 'घोषणापत्र' को रद्द करवा कर अधिक 'उदार' और 'सहृदयतापूर्ण' 'घोषणा-पत्र' तैयार कराया जिसमें सबके लिए समानता की घोषणा के साथ - साथ भारतीय जनता

1- विपिन चन्द्र पाल, स्वतंत्रता संग्राम, पृ0 44

2- डा0 भगवानदास माहोर, 1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव,

की समृद्धि और उन्नति के लिए सार्वजनिक कार्यों और उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने तथा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने के मधुर-मधुर आश्वासन दिए गये थे । विद्रोह से पहले अंग्रेजों द्वारा किए गए निर्ममतापूर्ण दमन और राज्य हड़पने की कार्रवाइयों की तुलना में ये 'आश्वासन' जनता को और भी मधुर लगे । लोगों ने समझा 'उस शासन परम्परा का' जिसे 'जानब्राइट' ने 'ए हंड्रेड ईयर्स आव क्राइम' कहा था, का अब अंत हो गया है । जनता ने स्वयं को महारानी विक्टोरिया की अधीनता में सुरक्षित समझा । महारानी विक्टोरिया के प्रति उसके मन में एक अनन्य श्रद्धा की भावना जाग्रत हुई । जनता में नवीन आशा और उत्साह का संचार हुआ । भारतेन्दु युग के साहित्यकारों द्वारा राज-प्रशस्तिपरक कवितायें इसी पृष्ठभूमि में लिखी गयीं ।[1]

किन्तु महारानी विक्टोरिया का 'उदारता' एवं 'सहृदयतापूर्ण' 'घोषणापत्र' ब्रिटिश शासन-नीति का एक पक्ष था । उसका दूसरा पक्ष पूर्णतः अंधकारपूर्ण था । उस 'घोषणापत्र' में अंग्रेजों और भारतीयों के साथ एक जैसा व्यवहार करने की बात थी । इस संबंध में वायसराय लिटन का कथन ध्यान देने योग्य है, ''ये दावे और ये उम्मीदें न तो कभी पूरी हो सकती हैं और न पूरी होंगी ।''[2] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने ब्रिटिश शासन की इस कूटनीति को भली-भांति समझ लिया था । 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के पहले ही अंक में (1873 ई0) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अंग्रेजों से सवाल करते हुए इस तथ्य की ओर इशारा किया था, ''यदि प्रजा में है तो उसे अजा - सी क्यों बलि देते हैं ? और यदि जन में है तो उसे फांसी देकर क्यों मारते हैं ?''[3] जिन भारत-वासियों की आशा भरी दृष्टि अभी भी इस ओर लगी हुई थी कि महारानी विक्टोरिया उनके

1- ''प्रभु रच्छहु दयाल महारानी ।
बहुदिन जिए प्रजा-सुख दानी ।।
सब दिसि में तिनकी जय होई ।
रहे प्रसन्न सकल भय खोई ।
राज करौ बहुदिन लौं सोई ।।'' - ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-2, पृ0 813

2- रजनीपाम दत्त, भारत : भावी और वर्तमान, पृ0 120

3- डा0 रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पुस्तक में, पृ0 63 पर उद्धृत

कष्टों को दूर करेगी और 'घोषणा पत्र' में किए गए लम्बे - चौड़े वादे को पूरा करेगी, उन पर व्यंग्य करते हुए, उन्हें सचेत करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारत दुर्दशा नाटक में लिखा, ''कहाँ गया भारत मूर्ख । जिसको अब भी परमेश्वर और राज राजेश्वरी का भरोसा है ? देखो तो अभी इसकी क्या - क्या दशा होती है ।''[1] अंग्रेजी राज्य के वास्तविक चरित्र को उद्घाटित करते हुए उन्होंने देशवासियों को इस तथ्य से परिचित कराया कि अंग्रेजी राज्य का अर्थ है —

''मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न ।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ धन है मुझको धन्न ।।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी ।[2]''

वास्तव में अंग्रेजी राज्य का चरित्र सहज न था । देश में अपने शासन को सुदृढ़ बनाए रखने के उद्देश्य से उसने 1857 ई0 के बाद देश के प्रतिक्रियावादी ताकतों से साँठ-गाँठ करना शुरू कर दिया था । विद्रोह के बाद राज्यों को जबर्दस्ती हड़प लेने की नीति का परित्याग करके अंग्रेजों ने बचे-खुचे राजाओं को 'पूर्णतया स्वतंत्र' घोषित कर दिया था और उनके राज्यों में हरेक प्रकार के सामन्ती अत्याचारों की रक्षा करने लगे थे । बदले में ये राजे-महाराजे अपने स्वार्थों की रक्षा हेतु जनता के विरुद्ध बड़े-बड़े जमींदारों और ब्रिटिश शासकों की सहायता के लिए सदा तत्पर बने रहते थे । वास्तव में 'ये लोग' ब्रिटिश सरकार के जीहुजूर नौकर थे । भारतेन्दु युग के प्रायः सभी साहित्यकारों ने देसी राजाओं के 'कठपुतलेपन' पर व्यंग्य करते हुए उनकी 'अस्मिताहीन' भूमिका को धिक्कारा है —

''कैदी के सम रहत सदा आधीन और के ।
घूमत लुंजा बने शाह शतरंज के तौर के ।।''

राजाओं के मात्र राजा रह जाने की ओर संकेत करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था कि ''कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्व कृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-1, पृ0 137

2- भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-1, पृ0 137

हैं ? तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा, जहाँ चलाइए वहाँ चलें ।''[1]

ऐसे रीढ़-विहीन राजा-महाराजा, पंडे-पुरोहित, नवाब तथा बड़े-बड़े जमींदार जनता के साथ गद्दारी करते हुए देश में ब्रिटिश शासन की जड़ों को मजबूत करने में हर संभव सहायता कर रहे थे । ये लोग कभी धर्म की आड़ में, कभी राजनीति के मुद्दा बनाकर, तो कभी धन के बलपर जनता को गुमराह करते थे । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बलिया वाले भाषण में, ऐसे गद्दार लोगों को जनता के बीच विवस्त्र करते हुए इनके साथ जनता को कैसा सलूक करना चाहिए, बताया – ''कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपा है । उन चोरों को वहाँ-वहाँ से पकड़-पकड़ कर लाओ । घर में कोई मनुष्य व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानास करोगे उसी तरह इस समय जो - जो बातें तुम्हारी उन्नति पथ में काँटा हों उसकी जड़ खोद कर फेंक दो ।.... जब तक सौ-दो सौ बदनाम न होंगे,, जाति से न निकाले जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई देश न सुधरेगा ।''[2]

देश में बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता को कुंठित और अवरूद्ध करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का सहारा लिया । अंग्रेज भली-भाँति इस बात को समझ रहे थे कि भारतीय जनता में बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना उनके शासन के लिए सबसे बड़ा खतरा है । जार्ज हैमिल्टन ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा था कि, '' भारतीय जनमानस में, वहाँ की जातियों और धर्मों में, हमारे शासन के विरूद्ध जो एकता बढ़ रही है, उसकी वजह से मैं भविष्य की कल्पना करते डर जाता हूँ ।''[3] अतः देश की एकता को खंडित करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने फूट डालकर धार्मिक विद्वेष को बढ़ावा देते रहने की नीति अपनायी । साम्प्रदायिक

1- ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-1, पृ० 36।

2- ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-3, पृ० 899-900

3- विपिन चन्द्र पाल, स्वतंत्रता संग्राम, पुस्तक में उद्धृत , पृ० 72 पर

भावनाओं को उभारने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने कट्टरपंथी हिन्दुओं द्वारा शुरू किए गए गोवध-आन्दोलन का समर्थन किया । क्योंकि यह आन्दोलन हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा किए गए एकता के सारे प्रयासों को असफल बना देता था । इसी प्रकार गाजे-बाजे को लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों में हुए झगड़े का फैसला मजिस्ट्रेट ने इस रूप में किया , '' शाम को सात-आठ के बीच सिर्फ सात मिनट को शंख बजेंगे ।''[1] यह और कुछ नहीं, अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' नीति का व्यावहारिक रूप था । भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की उक्त नीति के विरुद्ध जनता से एक जुट होकर संघर्ष करने की अपील करते हुए राष्ट्रीयता के उस आदर्श रूप को वाणी दी, जो सभी जाति, सम्प्रदाय के लोगों को समान दृष्टि से देखती है, '' वैष्णव शाक्त इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का वैर छोड़ दें, यह समय इन झगड़ों का नहीं । हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए । जाति में कोई ऊँचा है, चाहे नीचा सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य है उसको वैसा मानिए । छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी न तोड़िए ।''[2] जनता को एकता का संदेश देते हुए कहा कि, ''घर में आग लगी पर जिठानी-द्यौरानी का आपस का डाह छोड़कर एक साथ आग बुझानी चाहिए ।''[3]

साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने के लिए अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से शासन-स्थापना के आरम्भ से ही हिन्दी-उर्दू भाषा-विवाद को बनाए रखा । सन् 1835 में मैकाले की शिक्षा-नीति के कार्य-रूप में परिणत हो जाने के उपरान्त अंग्रेजों ने मुगल शासन काल से चली आ रही अदालतों की भाषा 'फारसी' को ही मान्यता दी किन्तु सन् 1836 में जनमत के दबाव के कारण देश की प्रचलित भाषा 'हिन्दी' को मान्यता देनी पड़ी । मुसलमानों द्वारा 'स्वार्थ-वश' उक्त नीति का घोर विरोध किए जाने पर एक साल बाद ही इस प्रस्ताव को वापस ले लिया गया । जन सामान्य में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए माध्यम-भाषा के रूप में 'उर्दू'

1- डा0 रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ0 61 पर उद्धृत

2- ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-3, पृ0 901

3- वही, पृ0 901

का पक्ष लेते हुए सन् 1868 में हिन्दी - प्रान्त के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष केम्पसन ने "उर्दू" के शानदार भविष्य की कल्पना करते हुए, इन शब्दों में अपनी राय जाहिर की, ''यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखायी जाती, न कि एक ऐसी भाषा में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।''[1] गार्सा द तासी ने हिन्दी - उर्दू भाषा विवाद को मजहबी रंग देते हुए हिन्दुओं की जबान 'हिन्दी' को 'बुतपरस्त' की संज्ञा दी।[2] वास्तव में अंग्रेजों का लक्ष्य हिन्दुओं और मुसलमानों में धर्म के प्रति कट्टरता की भावना पैदा कर, हिन्दू - मुसलमानों में एकता लाने के राष्ट्रवादियों के सारे प्रयत्नों को विफल कर देना था।

इसी तरह हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव को गहराने के उद्देश्य से ब्रिटिश शासन की तरफ से यह घोषणा की गयी कि सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों को सरकारी नौकरी दी जाएगी जो अंग्रेजी के साथ फारसी या उर्दू की परीक्षा में सफल होंगे। 'हिन्दी प्रदीप' ने अंग्रेजों की इस नीति का निर्भीकता से खण्डन करते हुए लिखा था कि, '' 19 जुलाई के छपे हुए गवर्नमेंट गजट नंबर 1694 के देखने से जाना गया कि वे ही हिन्दुस्तानी सरकारी नौकरी पावेंगे जो अंग्रेजी के साथ फारसी या उर्दू की परीक्षा में पूरी उतरेंगे। हम सब प्रजा लोग यही मतलब समझते हैं कि अंग्रेजी के साथ जो लोग हिन्दी या संस्कृत पढ़ते हैं उनको सरकारी नौकरी न मिलेगी।''[3] वस्तुतः अंग्रेजों ने हर तरह से हिन्दी और देसी भाषाओं का विरोध किया। इस विरोध का कारण स्पष्ट था, क्योंकि यदि वे हिन्दी और देसी - भाषाओं का विरोध न करते तो राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार और भी द्रुत गति से होता, जो उनके शासन के लिए सबसे बड़ा खतरा था।

1- रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पुस्तक में, पृ0 303 पर उद्धृत

2- ''हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है, वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं, इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी सामी मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसीलिए तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पायी जाती हैं।''
— रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पुस्तक में, पृ0296 पर उद्धृत

3- 'हिन्दी प्रदीप', अक्तूबर 1877, पृ0 1

अंग्रेज प्रशासकों तथा मुसलमानों द्वारा घोर विरोध किए जाने के बावजूद भारतेन्दु युग के 'निजभाषा' प्रेमी लोगों ने हिन्दी भाषा तथा नागरी अक्षरों का प्रचार-प्रसार करने में कोई कसर न उठा रखी। उन्होंने नागरी प्रचार-प्रसार को एक आन्दोलन का रूप दे दिया था। हिन्दी भाषा आन्दोलन के ये नेता पुस्तकों और पत्रिकाओं में हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों से संबंधित सामग्री तो छपते ही थे, इससे इतर नाटक, सभा, व्याख्यान जो भी साधन मिलता था उसका उपयोग करने में हिचकते नहीं थे। हिन्दी प्रचार-प्रसार आन्दोलन में सक्रिय सहयोग देने के उद्देश्य से ही देश के भिन्न-भिन्न भागों में, 'कवि कुल-कौमुदी', 'हिन्दी उद्धारिणी सभा', 'भाषा-सम्वर्द्धिनी सभा', 'कवि-समाज', 'मातृभाषा प्रचारिणी सभा', 'हिन्दी वार्द्धिनी सभा' तथा 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' जैसी अनेक सभाओं की स्थापना की गई थी। हिन्दी प्रचार-प्रसार का उत्साह इन हिन्दी प्रेमियों में इतना अधिक था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह संदेश ही उनका मूल मंत्र बन गया था —

> ''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
> बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल।।[1]

इस मूल मंत्र से ही प्रेरित होकर पंडित गौरीदत्त जी जैसे लोगों ने अपनी सारी जायदाद नागरी-प्रचार के लिए लिखकर, रजिस्ट्री करा दी और स्वयं सन्यासी होकर नागरी प्रचार का झंडा हाथ में लेकर निकल पड़े। हिन्दी भाषा और नागरी प्रचार आन्दोलन का ही यह परिणाम था कि सन् 1900 में कचहरियों में हिन्दी का प्रवेश संभव हो सका।

'फूट डालो और राज्य करो' की नीति अपनाते हुए अंग्रेजों ने उसका प्रयोग परम्परागत सामंती-वर्ग को नए शिक्षित वर्ग से, एक प्रांत को दूसरे प्रांत से, एक जाति को दूसरी जाति से और एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाने के लिए भी किया। अंग्रेजों की उक्त नीति का ही यह परिणाम था कि सन् 1890 और 1900 ई० के बीच उमेशचन्द्र

1- हिन्दी प्रदीप, सन् 1877

बनर्जी, न्यायाधीश रानडे और गोखले जैसे कुछ पुराने कट्टरपंथी नेताओं को उग्र समझे जाने वाले नेताओं से अलग कर दिया गया ।

इस प्रकार जिस ब्रितानी शासन ने 1857 ई० से पहले सतीप्रथा को प्रवेश करार कर, शिशुहत्या और ठगी के खिलाफ जिहाद चलाकर, देश में पश्चिमी ढंग की शिक्षा-पद्धति जारी करके (यद्यपि अपने हित में अधिक) देश और समाज की उन्नति के लिए आंशिक रूप में प्रयास किया था, उसने 1857 ई० की क्रान्ति के बाद समाज-सुधार के सारे प्रयत्नों से हाथ खींचकर अपने को धर्म और समाज की सर्वाधिक पिछड़ी, परम्परागत और ज्ञानविरोधी शक्तियों से जोड़ लिया । ब्रिटिश शासन की इस बदली हुई नीति का आभास महारानी विक्टोरिया के 'घोषणा पत्र' से ही हो जाता है, जिसमें कहा गया था कि, ''वह धार्मिक विश्वास और उपासना के मामलों में कभी किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगी'' और भारत की देशियानुसी ताकतों को यह विश्वास दिलाया गया था कि ''भारत के प्राचीन अधिकारों, रीतियों, रिवाजों का पूरा ध्यान रखा जाएगा ।''[1]

1861 में 'इंडिया कौंसिल एक्ट' लागू करके (परिषदों में गैर-सरकारी लोगों को मनोनीत करने की व्यवस्था जिसका पुनर्गठन सन् 1892 में करके कुछ व्यापक बनाया गया), सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अधिक अवसर देकर, जिला बोर्डों और नगर पालिकाओं के अधिकारों को व्यापक करके तथा समाज सुधार के क्षेत्र में एक मात्र 'एज आव कन्सेंट एक्ट' पास करके भारतीयों को खुश करने का प्रयत्न किया जाता था । किन्तु ब्रिटिश सरकार एक तरफ तो रियायतें दे रही थी, दूसरी ओर देश में विकसित हो रही राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना को कुंठित करने के उद्देश्य से दमन का सहारा ले रही थी । दमन के सभी यंत्रों – पुलिस, अदालत, टैक्स का इस्तेमाल ब्रिटिश शासन करता था । भारतेन्दु द्वारा 'पुलिस' को आधार बनाकर लिखी

1- रजनीपाम दत्त, भारत : भावी और वर्तमान, पृ० 120

गई मुकरी प्रसिद्ध है ।[1] प्रतापनारायण मिश्र ने भी व्यंग्य शैली में 'तृप्यन्ताम' कविता लिखी थी । इस कविता में यह बतलाया गया है कि अंग्रेजी शासन के आधीन भारत में सिर्फ मृत्यु देवता को ही तृप्त किया जा सकता है —

''लैसन इनकम चुंगी चंदा पुलिस अदालत धाम ।
सबके शायन असन बसन जीवन संशयमय रहत मुदाम ।।
जो इनहूं ते प्राण बचैं तो गोली चलति आय धड़ाम ।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम सब प्रकार का तृप्यन्ताम ।।''[2]

सामाजिक विकास की अनिवार्य परिस्थितियों के अनुरूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत का पूंजीपति वर्ग सामने आने लगा था । 1853 में भारतीय पूंजी से भारत में पहला कामयाब सूती मिल खुला, 1850 तक भारत में 150 सूती मिल चालू हो गए, जिनमें 44000 मजदूर काम करते थे । 1900 ई० तक मिलों की संख्या 193 हो गयी और उसमें काम करने वाले मजदूरों की संख्या 1,61,000 हो गयी ।[3] देश में उभरते हुए इस सूती उद्योग को अवरुद्ध करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने सन् 1882 में ब्रितानी कपड़ों पर से आयात शुल्क हटा लिया ।

अफगानिस्तान के प्रति विस्तारवादी युद्ध (जिसका खर्च भारतीय खजाने पर डाला जाता था), सन् 1878 का 'भारतीय प्रेस-विधेयक-कानून' (ब्रिटिश सरकार की आलोचना पर पाबंदी) तथा सन् 1879 के 'शस्त्र कानून' (भारतीयों से हथियार छीन लेने का अधिकार) के साथ ही भारतीय नागरिक सेवा की अधिकतम आयु सीमा को घटा कर, पुलिस तथा दण्ड नायकों के अधिकारों में वृद्धि एवं सन् 1877 (अकाल - वर्ष) में वर्चलि

1- ''रूप दिखावत सबरस लूटै ।
फंदे में जो पड़े न छूटै ।
कपट कटारी जिय में हुलिस
क्यों सखि सज्जन नहिं पुलिस ।।'' — भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-2, पृ० 811

2- भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पुस्तक में, पृ० 109 पर उद्धृत

3- भारत : वर्तमान और भावी, पृ० 121

'दिल्ली दरबार' के आयोजन जैसे ब्रिटिश सरकार के जनविरोधी कार्यों ने आम जनता, शिक्षित बुद्धिजीवियों के मन में व्यापक असन्तोष व बेचैनी को जन्म दिया ।

इसी समय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोविन्द रानडे तथा दादा भाई नारोजी जैसे राजनीतिक नेताओं द्वारा 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना के साथ ही सामाजिक सुधारकों तथा साहित्यकारों द्वारा विभिन्न समाजों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से व्यक्त किए जा रहे नये विचार, भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन की दासता के प्रति सचेत करते हुए, उससे मुक्ति के लिए प्रेरित कर रहे थे । यही कारण था कि देश का शिक्षित वर्ग अपने नागरिक अधिकारों की मांग करने लगा था । ऐसी ही अराजकतापूर्ण एवं असंतोष भरे वातावरण में अवकाश प्राप्त अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारी ए० ओ० ह्यूम ने कुछ राष्ट्रवादी नेताओं के सहयोग से कांग्रेस की स्थापना की । अपने प्रशासनिक जीवन के दौरान ह्यूम ने यह स्पष्ट रूप से अनुभव कर लिया था कि सरकार जनता से खतरनाक ढंग से कटी हुई है । सरकार के पास जनता की जरूरतों, समस्याओं तथा राय से परिचित होने का कोई वैधानिक साधन नहीं है । वस्तुतः 1857 ई० के बाद एक बार फिर ऐलन अक्टावियन ह्यूम को यह कहना पड़ा कि "ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है, कि किसी भी समय छोटे से बादल का कोई ऐसा टुकड़ा जिसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जा रहा, बढ़कर सारे देश पर छा सकता है और अराजकता और विनाश की वर्षा कर सकता है ।"[1] अंग्रेज शक्तियों में 'ह्यूम' ने जिन्होंने इस खतरे को देखा और जनता की बढ़ती हुई बेचैनी को रोकने के उद्देश्य से कांग्रेस की स्थापना की, "इरादा यह था कि अंग्रेजी राज को जनता की बढ़ती हुई बेचैनी और अंग्रेज-विरोधी भावना से बचाने के लिए इस संस्था का इस्तेमाल किया जाए।"[2] ताकि इस 'सुरक्षा-नालिका' के माध्यम से जनता की बढ़ती हुई बेचैनी और असंतोष को 'सुरक्षित रूप से' बाहर निकाला जा सके ।

1- ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, भाग-2, पृ० 479-480

2- रजनीपाम दत्त, भारत : भावी और वर्तमान, पृ० 123

सन् 1885 में हुए अपने पहले ही अधिवेशन में कांग्रेस ने परम राजभक्ति का परिचय देते हुए नरमी के साथ कहा था कि, ''अधिकारी वर्ग के प्रति राजभक्ति का इजहार करती हुई कांग्रेस सिर्फ इतना मांग करती है कि सरकार के आधार को विस्तृत किया जाए और जनता को सरकार में उसका उचित हिस्सा दिया जाए।''[1] दूसरे शब्दों में कांग्रेस का रुख आरम्भ से ही नरम रहा। वह प्रशासन में छोटे-छोटे सुधारों की ही मांग करती रही, आगे बढ़कर उसने 'स्वराज्य' की मांग को बुलंद नहीं किया।

आरम्भ में कांग्रेस के प्रति सरकार का रुख सहानुभूतिपूर्ण रहा, किन्तु समय बीतने के साथ कांग्रेस द्वारा किए गए साम्राज्यवाद के आर्थिक विश्लेषण - विश्लेषण को देखकर तथा प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन और सुधार की मांग को सुनकर सरकार बौखलाने लगी और कांग्रेस के कार्यों की खुलकर आलोचना करनी शुरू कर दी। गोखले ने ब्रिटिश सरकार की इस बदली हुई नीति की ओर संकेत करते हुए बड़े दुःख के साथ कहा था कि, ''नौकरशाही साफ-साफ स्वार्थी बनती जा रही है और राष्ट्र की आशाओं का खुलकर विरोध कर रही है। पहले वे ऐसी नहीं थी।''[2]

1885 से लेकर 1905 तक कांग्रेस लगभग उसी रास्ते पर चलती रही, जो रास्ता उसके आकाओं ने तय कर दिया था।[3] किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष की पीढ़ी इन उदारपंथी नेताओं की नीतियों की आलोचना करने लगी थी। बेरोजगारी, दुर्भिक्ष तथा साम्राज्यवादी शोषण नीति ने मध्य वर्गीय बुद्धिजीवियों, वकीलों, छात्रों, अध्यापकों, मजदूरों, तथा किसानों के क्रोध को भड़का दिया था। यही कारण है कि इन उग्रपंथी नेताओं को असंतुष्ट, निराश जनता का व्यापक समर्थन मिला।

1- रजनीपाम दत्त, भारत : भावी और वर्तमान, पृ0 133

2- वही, पृ0 133

3- 1905 के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने साफ कहा था, ''यह अच्छा हो या बुरा, हमारा भविष्य अब इंग्लैंड के निवासियों के भविष्य के साथ सम्बद्ध है और कांग्रेस इस बात को खुले तौर पर स्वीकार करती है कि हम जो भी प्रगति करना चाहते हैं, वह ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही होगी।''

— के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ0 410

नरमदली कांग्रेसी नेताओं को जनता की शक्ति में विश्वास न था । गोखले ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा था कि देश में अनगिनत वर्ग और उपवर्ग हैं । आबादी का बहुलांश अज्ञानी है, सनातनी भावों और विचारों से दृढ़तापूर्वक चिपका हुआ है । वह किसी प्रकार के परिवर्तन के प्रति न केवल उदासीन है बल्कि उसे समझता भी नहीं । इसके ठीक उल्टा उग्रपंथियों के नेता तिलक ने जनता की शक्ति में विश्वास व्यक्त करते हुए जनता को साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठ खड़े होने को ललकारा था, '' आपको यह समझ लेना चाहिए कि जिस ताकत के बूते पर भारत में अंग्रेज सरकार अपनी हुकूमत चलाती है, उसमें आप खुद एक बहुत बड़ा तत्व हैं । इस भीमकाय मशीन को बड़ी सुगमता से चलाने में आप स्नेहक यानी चिकनाई का काम कर रहे हैं । मैं मानता हूँ कि आप कुचले हुए और उपेक्षित हैं लेकिन आपको इस ताकत का अहसास होना चाहिए कि अगर आप चाहें तो प्रशासन की इस मशीन का चलना असंभव बना दे सकते हैं, यह आप ही लोग तो हैं जो राजस्व वसूल करते हैं और समझौते कराते हैं । दरअसल यह आप ही लोग हैं जो प्रशासन के हर काम को करते हैं – यद्यपि एक अधीनस्थ के रूप में । आपको सोचना होगा कि इस तरह खपते रहने के बजाय, क्या आप अपनी योग्यता को राष्ट्र के बेहतर हितों के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकते ।''[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तिलक से भी बहुत पहले जनता की शक्ति में विश्वास व्यक्त करते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए ललकारा था, '' भाइयों राजा महाराजा का मुँह मत देखो, मत यह आशा रखो कि पंडित जी कथा में कोई ऐसा उपाय भी बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े । तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो । कब तक अपने को जंगली, हूस, मूर्ख, बोदे, डरपोकने पुकरवाओगे ।''[2]

तिलक, घोष आदि नेता जिस उग्रवादी नीति का प्रचार कर रहे थे, वह असहयोग, बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के विचारों पर आधारित थी । साहित्य में उक्त विचारों की अभिव्यक्ति भारतेन्दु और उनके सहयोगी बहुत पहले से ही कर रहे थे । डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं कि, '' बंग-भंग से बहुत पहले कांग्रेस के स्वदेशी आन्दोलन से भी पहले, भारतेन्दु ने अपने व्याख्यानों तथा साहित्यिक रचनाओं द्वारा

1- के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 412 पर उद्धृत

2- भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-3, पृ० 898

हिन्दुस्तान के स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया था । प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को हम अपनी रचनाओं में स्वदेशी के लिए आन्दोलन करते हुए पाते हैं ।''[1] 'तदीयसमाज' के सदस्यों के लिए स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार भारतेन्दु जी ने अनिवार्य कर दिया था । स्वदेशी के महत्त्व को मनोरंजक शैली में समझाते हुए लिखा था, '' जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैंड,जर्मनी , अमेरीका जाती है । दियासलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है । अपने ही को देखो तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमरीका की बनी है..... भाइयों अब तो नींद से चौंको अपने ही देश की सब प्रकार उन्नति करो । जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो वैसे ही खेल खेलो , वैसी ही बातचीत करो । परदेशी वस्तु और भाषा का भरोसा मत रखो । अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो ।''[2] भारतेन्दु युग का व्यापक हिन्दी-प्रचार आन्दोलन स्वदेशी का ही एक अंग था । तिलक ने 'बहिष्कार' की व्याख्या करते हुए कहा था, '' यह जरूरी नहीं कि आप सभी लोग हथियार उठायें, लेकिन अगर आप में सक्रिय प्रतिरोध की ताकत नहीं है तो क्या आप में आत्म-निषेध की इतनी ताकत भी नहीं है कि एक विदेशी सरकार को अपने ऊपर हुकूमत चलाने में उसका साथ न दें । यही बहिष्कार है ।''[3] सन् 1905 के लगभग आन्दोलन के साथ ही 'बहिष्कार' एक राजनीतिक अस्त्र बन गया ।'

'नरमपंथी कांग्रेसी नेता अपने अधिवेशनों में प्रशासनिक सुधारों, संवैधानिक अधिकारों के साथ ही स्वशासी सरकार की मांग भी करते रहे । भारत से ब्रिटिश सरकार का अंत करने का कोई कार्यक्रम उसके सामने नहीं था । तिलक ने आगे बढ़कर सबसे पहले घोषणा की कि – 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है । मैं उसे लेकर रहूँगा ।' इस प्रकार उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जुए को कंधे से उतार फेंकने की जनता की इच्छा को व्यक्त किया ।'

1- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ० 43

2- भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग-3, पृ० 902-903

3- के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पुस्तक में, पृ० 414 पर उद्धृत

'इस नयी उठान की पृष्ठभूमि में विश्व-रंगमंच पर कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हो रही थीं । सन् 1896 में इटली पर इथोपिया की विजय ने तथा सन् 1905 में जापान के हाथों जारशाही रूस की पराजय ने शोषित भारतीय जनता में यह आत्म-विश्वास पैदा किया कि गोरे लोगों का काले लोगों से बेहतर होने का दावा झूठा है । अपनी तमाम दक्षता के बावजूद पश्चिम के लोग एशिया के अपराजेय विधाता नहीं हैं । हिन्दी के साहित्यकारों ने भी उन घटनाओं का स्वागत किया ।

भारत की जनता में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध बढ़ती एकता को खंडित करने के उद्देश्य से 'लार्ड कर्जन' ने सन् 1905 में बंगाल को दो भागों में बाँट दिया । बंग-भंग की इस घटना से सारा भारत क्रुद्ध हो उठा । बंग-भंग के विरोध ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया । यह आन्दोलन शहरों तक ही सीमित नहीं रहा उसने ग्रामीण जनता को भी प्रभावित किया । स्वदेशी और बहिष्कार का जो नारा साहित्यकारों ने लगाया था वह इस आन्दोलन में एक राजनैतिक अस्त्र बन गया ।

जनशक्ति के आगे अंग्रेजों को झुकना पड़ा । सन् 1911 में एक शाही फरमान के द्वारा बंग-भंग के निर्णय को, सरकार को, रद्द कर देना पड़ा । कांग्रेस ने सरकार के इस कार्य का स्वागत करते हुए ऐलान किया, '' इस समय हरेक भारतीय का हृदय ब्रिटिश सरकार के प्रति श्रद्धा और भक्ति से ओतप्रोत हो गया है और हम उनके कृतज्ञ हैं ।''

ब्रिटिश शासन की 'फूट डालो और राज्य करो', नीति का ही यह परिणाम था कि उग्रपंथियों और नरमदलों नेताओं के बीच की खाई बढ़ती चली गई । सन् 1907 में कांग्रेस दो गुटों में बँट गई । इस अवसर का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने सन् 1907 में राजद्रोहात्मक कानून (सेडीशस मीटिंग एक्ट) और सन् 1910 में 'इंडियन प्रेस एक्ट' पारित कर उग्र समझे जाने वाले भारतीय भाषाओं के पत्रों का मुँह बंद कर दिया । 'हिन्दी प्रदीप' उसी 'प्रेस एक्ट' के प्रहार से सदा के लिए बुझ गया ।'

अपने तमाम अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न के बावजूद ब्रिटिश शासकों ने ग्राम - समुदाय पर आधारित युगों पुरानी सामाजिक व्यवस्था को टूटने में मदद पहुँचाकर, देश में पश्चिमी ढंग की शिक्षा पद्धति लागू करके तथा यातायात व संचार के साधनों का

विकास करके एक मध्ययुगीन राज्य से भारत को एक आधुनिक राज्य के रूप में विकसित करने के क्रम में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी में हुए आर्थिक परिवर्तन, नई शिक्षा, यातायात के नए साधनों के फलस्वरूप समाज में जिस आधुनिकता का सूत्रपात हो रहा था, वह पुराने धार्मिक अंधविश्वासों, धार्मिक संस्कारों, रीतिरिवाजों, सामाजिक कुरीतियों, जातिप्रथा, छुआछूत के भेदभाव से मेल नहीं खाता था । नई शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग तथा प्रगतिशील विचारक यह साफ समझ रहे थे कि यदि समाज में प्रचलित कुरीतियों, रूढ़ियों, पाखण्डों को दूर नहीं किया गया तो भारत का एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में विकास असंभव है । इसके विपरीत समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जो अपने निजी स्वार्थों को बनाए रखने के लिए वेदों और शास्त्रों से प्रमाण देकर सामाजिक असमानताओं को न्याय संगत ठहरा रहा था । ऐसा वे ब्रिटिश सरकार का कृपापात्र बने रहने के लिए करते थे । यद्यपि यह सही है कि समाज का प्रगतिशील वर्ग भी वेदों और शास्त्रों के द्वारा अपने मतों की पुष्टि किया करता था । वास्तव में समस्त सामाजिक - धार्मिक सुधारों के मूल में धर्म एक महत्वपूर्ण तथ्य रहा है क्योंकि , '' सामंती विचारधारा का समाज पर अब भी दबा-दबा था..... । अतीत का भारी बोझ उन्हें अब भी दबाए हुए था.... यद्यपि आधुनिक शिक्षा तथा वैज्ञानिक विचारों का उदय हो चला था तो भी वैचारिक दृष्टि और सामाजिक संबंधों में पूंजीवाद से पहले के तौर तरीके अब भी आधिपत्य जमाए हुए थे ।''[2]

1- ''यह सत्य है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न करने में इंग्लैंड निकृष्ट स्वार्थों से प्रेरित हुआ था और जिस ढंग से उसने उन स्वार्थों की सिद्धि की थी वह मूर्खतापूर्ण था । पर सवाल यह नहीं है । सवाल यह है कि क्या मानव जाति, एशिया की सामाजिक व्यवस्था में मौलिक क्रान्ति हुए बिना अपने प्रारब्ध की पूर्ति कर सकती है ? यदि नहीं, तो इंग्लैंड ने जो भी अपराध किए हों, इस क्रान्ति को लाने में वह अनजाने में इतिहास का हथियार बन गया ।''

—मार्क्स - एंगेल्स, उपनिवेशवाद के बारे में, पृ० 47

2- के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 360-361

उन्नीसवीं शताब्दी में संस्कृति के स्तर पर राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए जो शक्तियाँ उठ खड़ी हुई थीं, उनमें से प्रमुख थीं -- आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थियोसाफिकल सोसायटी, तथा रामकृष्ण मिशन । इन धार्मिक - सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने समाज में प्रतिक्रियावादी सामाजिक शक्तियों के संरक्षण में प्रचलित सड़ी-गली रूढ़ियों, अंधविश्वासों, कुरीतियों को दूर करके, पुराने धर्म में नयी चेतना के अनुरूप व्याख्यायित करने का प्रयास किया । जनता को रूढ़िग्रस्त सामाजिक संबंधों को खत्म करने की दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया ।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के धार्मिक - सामाजिक सुधार आन्दोलन के पहले उल्लेखनीय नेता थे -- राजाराम मोहन राय, जिनका सम्मान आधुनिक राष्ट्रीयता का पिता कहकर किया जाता है । राजाराम मोहन राय उस पतनोन्मुख समाज-व्यवस्था में प्रचलित मूर्तिपूजा, पशुबली, पुनर्जन्म और अवतारों की अवधारणा जैसे रस्म-रिवाजों को अस्वीकार करते थे । सती-प्रथा का विरोध उन्होंने नैतिक आधार पर किया । बहुदेववादी कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए वे वेदान्ती एकतत्ववाद का समर्थन करते थे । उनके अनुसार एकतत्ववाद भारतीय एकता का प्रतीक था । यद्यपि उन पर इस्लाम और ईसाई एकेश्वरवाद का प्रभाव था तथापि ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं के धर्मपरिवर्तन कराए जाने का वे घोर विरोध करते थे ।

अपने सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन को केन्द्रीकृत रूप में तथा व्यवस्थित ढंग से चलाने के उद्देश्य से उन्होंने सन् 1828 में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की । 'ब्रह्म समाज', मूर्तिपूजा, छुआछूत के भेदभाव, जातिप्रथा, धार्मिक कट्टरता का विरोध करता था तथा विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह का समर्थक था । राजा राममोहन राय का स्पष्ट कथन था कि "हिन्दू धर्म की जिस प्रणाली पर हम लोग चल रहे हैं वह हमारी राजनीतिक हितों को बढ़ावा देने वाली नहीं है । जातपांत के भेदभावों ने, जिन्होंने जनता को कितने ही छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट रखा है, हमें राजनीतिक भावनाओं से शून्य कर दिया है । अनगिनत धार्मिक कर्मकाण्डों और पवित्रता संबंधी नियमों ने हमें किसी भी कठिन कार्य को उठाने के पूर्णतः अयोग्य बना दिया है । मेरा विचार है कि इस हिन्दू धर्म में कुछ न कुछ परिवर्तन होने ही चाहिए, कम से कम इसीलिए कि हमारे

TH-337
DISS
4(P,152)'M9
152L9
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY

राजनीतिक तौर से लाभ हो और जनता को सामाजिक सुख मिल सके ।''[1] वे हिन्दू धर्म को एक सच्चे राष्ट्रीय धर्म के रूप में पुनरुज्जीवित करना चाहते थे । यही कारण है कि उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान द्वारा सृजित नये मूल्यों तथा हिन्दू धर्म के परम्परागत मूल्यों के समन्वय पर बल दिया ।

बदली हुई परिस्थितियों में पुरानी शिक्षा-पद्धति की अपर्याप्तता को देखते हुए राजा राममोहन राय ने गणित, भौतिकी, रसायन शास्त्र तथा शरीर विज्ञान से समन्वित आधुनिक शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया । क्योंकि देश में प्रचलित पुरानी शिक्षा-पद्धति को कायम रखना देश को अंधेरे में रखना था । राजा राममोहन राय के जीवन काल में तो नहीं किन्तु कुछ वर्षों बाद भारत में मेकाले की अंग्रेजी ढंग की नई शिक्षा-प्रणाली जारी कर दी गई ।'मेकाले का उद्देश्य इस शिक्षा-पद्धति के द्वारा, एक ऐसा वर्ग पैदा करना था, जिसका रक्त और रंग भारतीय हो किन्तु जो रुचि, विचारों, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हो, तथा उन लाखों लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिये का काम कर सके ।[2]' अंग्रेजों ने जिस शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया वह सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित था । वास्तव में अंग्रेजों का उद्देश्य अंग्रेजी ढंग की शिक्षा देकर अपने प्रशासन के लिए क्लर्क तैयार करना था । भारत स्वयं एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में विकसित न हो सके, इसके लिए अंग्रेजों ने भारतीयों को तकनीकी शिक्षा से वंचित रखा । भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का पर्दाफाश करते हुए 8 फरवरी 1874 की 'कविवचन सुधा' में लिखा है कि, '' अब अंग्रेजी माया, बल और घात दृष्टि में आने लगा क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई , परन्तु कला-कौशल के विषय में हम लोग भली-भांति अज्ञात सागर में निमग्न हुए हैं । इसमें संदेह नहीं ।''[3] औद्योगिक शिक्षा के लिए देश के हिन्दुओं - मुसलमानों से कोशिश करने की अपील करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था कि, '' सय्यद अहमद खाँ मुसलमानों को अरबी पढ़ाकर क्या करेंगे कला सिखावें । अनेक (मिमोरियल फण्ड) चंदे होते हैं, अनेक बड़े दाता वर्तमान हैं तथा शिल्पविद्या की कोई शाला नहीं है ? हिन्दू

1- के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 364 पर उद्धृत
2- वही, पृ० 357 पर उद्धृत
3- डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० 31 पर उद्धृत

निश्चय रखो कि जब आत्मरक्षा का समय आवेगा तब बी०ए० होना या दाढ़ी छिलाकर आधी छांटना या संस्कृत बूंकना एक काम न आवेगा उस समय यही शिल्पविद्या तुम्हें बचावेगी ।''

उस युग में जब कि समाज में विदेश जाने वाले को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था, तब भारतेन्दु युग के साहित्य-कारों ने अनेकानेक तर्कों से सिद्ध किया था कि बिना देश की परिधि लाँघे भारत देश की उन्नति असंभव है, ''यह अच्छी तरह निश्चय हो गया है कि जब तक हम बाहर न जायेंगे मुल्क की दौलत किसी तरह न बढ़ेगी पर तो भी समाज से निष्कासित हो जाने के डर से जहाज पर चढ़ना पसंद नहीं करते ।''[1]

भारतेन्दु जी ने विलायत जाकर भारतीयों से तकनीकी विद्या सीखने का आग्रह किया था -

''अँगरेजी पहिले पढ़ि, पुनि विलायत जाय ।
या विद्या को भेद सब तो कछु लखाय ।''

शिक्षा की इस नयी प्रणाली ने जहाँ एक ओर भारतीयों के मन में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता के भाव को जन्म दिया वहीं दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की एक-एक बात के अनुकरण को आधुनिकता का पर्याय मान लिया था ।[2] किन्तु इसी अंग्रेजी शिक्षा ने प्रगतिशील विचारकों के सामने सामाजिक - राजनीतिक स्वातंत्र्य के नये क्षितिज भी उद्घाटित किये । उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के मूल तत्वों तथा अधिक उन्नत सांस्कृतिक मानदण्डों का उपयोग मातृभूमि की उन्नति के लिए किया । इस सन्दर्भ में पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन उल्लेखनीय है कि, ''विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में उतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुझाई नहीं पड़ता । काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे । प्राचीन और नवीन के संधिस्थल पर खड़े होकर वे दोनों

1- हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1880, पृ० 8

2- पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अंग्रेजी फैशन के गुलामों पर व्यंग्य करते हुए लिखा था कि, ''अंग्रेजी जूतों का स्वाद तो मानों सभी भारतीयों को ऐसा भाया कि किसी चाल का कोई हिन्दुस्तानी जूता अब अच्छा नहीं लगता ।''

का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो न कि ऊपर लपेटी हुई वस्तु ।''[1]

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने 'ब्रह्मसमाज' के क्रियाकलापों को आगे बढ़ाया । देवेन्द्र नाथ वेदों और शास्त्रों की अभ्रान्तता पर विश्वास करने की अपेक्षा तर्क पर अधिक बल देते थे । केशवचन्द्र सेन ने आत्मबिल और वेदों से अधिक विज्ञान पर बल दिया । उन्होंने रसायन शास्त्र, भूगोल शास्त्र और शरीर रचना विज्ञान को प्रकृति देवता के शास्त्र के रूप में ग्रहण किया । देश के विभिन्न भागों का भ्रमण कर उन्होंने 'ब्रह्म समाज' की शाखाओं ('वेदसमाज' तथा 'नव ब्रह्म समाज') की स्थापना की । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'ब्रह्मसमाज' में मतभेद पैदा हो जाने के कारण 'ब्रह्मसमाज' पतनोन्मुख हो चला ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजा राम मोहन राय द्वारा शुरू किया गया धार्मिक - सामाजिक सुधार आन्दोलन देश के किसी एक भाग तक सीमित नहीं रहा । आन्दोलन को देश व्यापी स्वरूप देने के उद्देश्य से केशव चन्द्र सेन की प्रेरणा से बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की स्थापना की गई । रानडे के नेतृत्व में 'प्रार्थना समाज' ने जातिप्रथा, बालविवाह, मूर्तिपूजा, सामाजिक कुरीतियों को दूर कर तथा विधवाओं के पुनर्विवाह, नारी-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्रियों को सम्पत्तिक अधिकार दिलाने का समर्थन कर हिन्दू-समाज को पुनः सशक्त बनाने का प्रयत्न किया ।

'प्रार्थना समाज' एक ईश्वर की आस्था में विश्वास करता था । रानडे अतीत के पुनरुत्थान का जोरदार शब्दों में विरोध करते थे । उनका स्पष्ट मत था कि पुरानी प्रथाओं और रस्म-रिवाजों का पुनरुत्थान करने से भारत की उन्नति असंभव है, '' हम से जब अपनी संस्थाओं और रस्म-रिवाजों का पुनरुत्थान करने को कहा जाता है तो लोग बहुत परेशान हो जाते हैं कि आखिर किस चीज का पुनरुत्थान करें । क्या हम जनता की उस समय की पुरानी आदतों का पुनरुत्थान करें जब हमारी सबसे पवित्र जातियाँ हर किस्म

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 308

थे गर्हित जैसा कि अब हम उन्हें समझते हैं – कार्य करती थी, अर्थात् पशुओं का ऐसा भोजन और मदिरापान.... । क्या हम सतीप्रथा और बाल-हत्याओं का पुनरुत्थान करें अथवा जीवित मनुष्यों को नदी में अथवा चट्टान पर से फेंकने की प्रथा का पुनरुत्थान करें... ।'' वास्तव में, ''पुरानी प्रथाओं तथा रूढ़ियों का पुनरुत्थान करने से हमारा कल्याण नहीं होगा और न ही यह व्यवहारिक रूप से संभव है ।''[1] उनके सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का एक मात्र उपाय सामाजिक सुधार करना था । देश भर में चल रहे छोटे-बड़े सामाजिक सुधार आन्दोलन को संगठित कर एक रूप देने के उद्देश्य से गोविन्द रानाडे ने सबसे पहले 'राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन' की स्थापना की ।

आरम्भिक युग में धार्मिक - सामाजिक सुधार आन्दोलनों का नेतृत्व करने वाले नेताओं में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही थीं । राजा राम मोहन राय, गोविन्द रानाडे जैसे उस युग के अधिकांश नेताओं का धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण था । ये लोग ईसाईधर्म तथा इस्लामधर्म का आदर करते थे । देश में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से हिन्दू - मुसलमानों में व्याप्त भेदभाव का विरोध करते थे । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ''कुरान शरीफ'' का हिन्दी अनुवाद करके धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया था । समय की आवश्यकता को देखते हुए ये लोग धर्म और समाज में परिवर्तन के दृढ़ समर्थक थे ।

दूसरी तरफ समाज सुधारकों का एक वर्ग ऐसा था जो हिन्दू धर्म के परम्परागत रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों और रस्मों के पालन पर बल देता था । पश्चिम की संस्कृति से भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हुए हिन्दू धर्म के विगत गौरव की स्थापना कर हिन्दुओं में आत्मविश्वास पैदा करना चाहता था । इसी विचारधारा के पोषक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे । उन्होंने सन् 1875 में 'आर्यसमाज' की स्थापना की । इस संस्था ने स्वामी दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में रूढ़िवादी सनातनियों से हिन्दू-धर्म पर आक्रमण करने वाले ईसाइयों से और देश में फैले हुए अनेक धार्मिक सम्प्रदायों से एक साथ लोहा लिया । ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाने के प्रयत्नों का विरोध करते हुए उन्होंने

1- के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 382-383 पर उद्धृत

अन्य धर्मों के अनुयायियों को हिन्दू बनाने के लिए आन्दोलन चलाया । स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा चलाये गए हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान आन्दोलन ने हिन्दू - मुस्लिम एकता के मार्ग में बाधायें खड़ी कर दी ।[1]

किन्तु आर्यसमाज का प्रत्येक कार्य जन-विरोधी नहीं था । आर्यसमाज ने केवल भारत में प्रचलित अहिन्दू धर्मों की ही आलोचना नहीं की अपितु हिन्दू धर्म में प्रचलित बहुदेववाद, मूर्त्तिपूजा आदि का खण्डन करते हुए निराकार ईश्वर की आराधना पर बल दिया । विधवा विवाह, वर्ण-व्यवस्था, बाल विवाह तथा ब्राह्मण धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड और अंधविश्वासों का विरोध करते हुए स्वामी दयानंद सरस्वती ने विशुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार किया ।

परम्परावादियों और आर्यसमाज के बीच होने वाले शास्त्रार्थों ने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में योग दिया । इन वाद-विवादों ने हिन्दी गद्य साहित्य को समृद्ध किया ही, प्रौढ़ता भी प्रदान की । जन सामान्य में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए आर्यसमाज ने देशभर में डी०ए०वी० स्कूलों का जाल बिछा दिया । आर्यसमाज के इस कार्य से शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ ही हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में भी प्रत्यक्ष रूप से सहायता मिली । इस प्रकार अपने सिद्धान्तों में एक हद तक संकीर्णतावादी होते हुए भी आर्यसमाज उतना ही साम्राज्य-वाद विरोधी था जितना इस्लाम और ईसाई धर्म विरोधी । यही कारण है कि आर्यसमाज को जनता का व्यापक समर्थन मिला था ।

आर्यसमाज की ही तरह थियोसाफिकल सोसायटी भी पुनरुत्थानवादी था । थियोसाफिकल सोसायटी की स्थापना एक विदेशी महिला मेडम ब्लावत्सकी ने मद्रास में की

1- "अपने फूट परस्त और संकीर्णतावादी रवैये के फलस्वरूप उसने सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के रास्ते में, सच्ची राष्ट्रीय एकता के रास्ते में रुकावटें खड़ी करनी शुरू कर दी और मुसलमानों तथा ईसाईयों के विरुद्ध शत्रुता भड़काकर उसने आगे प्रगति के मार्ग को रोक दिया ।"

– के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 390

थी । उन्होंने अपनी सोसायटी द्वारा पाश्चात्यदर्शन की महत्ता प्रकट करने के साथ ही साथ जनता को आध्यात्मिक शक्तियों और गुह्यविद्या में विश्वास करने की शिक्षा दी । थियोसाफिकल सोसायटी का उद्देश्य धर्म जाति अथवा वर्ण के भेद-भाव के बिना मानव-धर्म का प्रचार करना था, फिर भी वह हिन्दू धर्म को सब धर्मों में श्रेष्ठ मानती थी । इस संस्था ने हिन्दूधर्म में प्रचलित अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों अपना लिया था किन्तु इसके साथ ही थियोसाफिकल सोसायटी ने जनता को अतीत और उसकी विरासत के प्रति लज्जित होने की बजाय गर्व करना सिखाया ।

रामकृष्ण परम हंस के संदेश का प्रचार करने के उद्देश्य से स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । 'रामकृष्ण मिशन' का उद्देश्य जनता में नयी चेतना जगाना तथा गरीब जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना था । स्वामी विवेकानंद प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिजीवी थे । उन्होंने आधुनिक विज्ञान, विश्व इतिहास तथा दर्शन में असाधारण दक्षता प्राप्त की थी । उनका स्पष्ट तर्क था कि जनता की आध्यात्मिक उन्नति तब तक असंभव है जब तक अधिकांश जनता को रोटी नहीं मिलती , '' भूख से पीड़ित व्यक्ति को धार्मिक सिद्धान्तों की घुट्टी पिलाना व्यक्ति का अपमान करना है, उसके आत्म सम्मान पर चोट पहुँचाना है ।'' किन्तु इसके साथ ही उन्होंने जनता की कमजोरियों और दुर्बलताओं की कटु आलोचना की । समाज में प्रचलित अंधविश्वासों, अस्पृश्यता, जाति श्रेष्ठता की भावना की कटु निन्दा की । स्वामी विवेकानंद चाहते थे कि भारत की जनता लिजलिजी और कायर बने रहने के बजाय आत्मविश्वासी और दृढ़ बने । वे भारत की जनता में आत्मविश्वास और साहस का भाव देखना चाहते थे, '' आज हमारे भारत को जिस चीज की आवश्यकता है वह है दृढ़ इच्छा शक्ति, फौलाद जैसी मांसपेशियाँ और मजबूत स्नायु - जिन्हें कोई ताकत रोक न सके ।''[1] स्वामी विवेकानंद के संदेशों ने तत्कालीन भारतीय जनता के मन में एक नयी शक्ति का संचार किया ।

इन सामाजिक - धार्मिक सुधार आन्दोलन के समानान्तर ही उस युग के साहित्यकार भी अपने लेखों, भाषणों, वक्तव्यों के माध्यम से समाज में प्रचलित कुरीतियों, अंधविश्वासों, जाति प्रथा, छुआछूत जैसे समाज को कमजोर करने वाली नाना प्रकार की रूढ़ियों

1- के०दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पुस्तक में, पृ० 374 पर उद्धृत

के विरुद्ध जिहाद चलाकर देश में नवजागृति लाने का प्रयास कर रहे थे । यही कारण है कि उस युग के प्रायः सभी साहित्यकारों ने उच्चकोटि के सामाजिक - धार्मिक और नैतिक आशय से युक्त लेख अपने-अपने पत्रों में प्रकाशित किए । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो सामाजिक समस्याओं से संबंधित विषयों की सूची ही बना दी थी । वे चाहते थे कि सभी लोग इन विषयों को आधार बनाकर देश भाषा में छोटे-छोटे सरल गीत और छंद लिखें, और देशवासियों में जागृति पैदा हो । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'जातीय संगीत' शीर्षक निबंध में लिखा था कि ''बाल-विवाह से हानि, जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, अंग्रेजी फैशन से शराब की आदत, भ्रूण हत्या, फूट और बैर, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, जन्मभूमि -- इससे स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन, नशा, अदालत, स्वदेशी -- हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दोस्तानियों को व्यवहार करना -- इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन.... आदि ऐसे ही और और विषय जिनमें देश की उन्नति संभव हो लिए जाएँ ।.... इन विषयों के छोटे- छोटे सरल देशभाषा में गीत और छंदों की आवश्यकता है जो पृथक पुस्तकाकार मुद्रित होकर साधारण जनों में फैलाये जायेंगे ।''[1]

भारतेन्दु जी ने स्वयं तो इन विषयों पर कविताएँ लिखी ही, अन्य कवियों ने भी उनका अनुसरण किया । क्योंकि इस युग के प्रत्येक साहित्यकार का उद्देश्य अपने पत्रों के माध्यम से हिन्दी साहित्य की भंडार-वृद्धि के साथ ही साथ समाज के नवनिर्माण में सहायता करना भी था ।

हिन्दुओं में व्याप्त ऊँच-नीच तथा छुआछूत की भावना ने परस्पर फूट, कलह और वैमनस्य को जन्म दिया था । छुआछूत की भावना इतनी प्रबल थी कि आपस में ब्याह-शादी की बात तो दूर, खान-पान तक न था --

''जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो ।
खान-पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो ।
अपरस सोल्हा छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाय ।
किए तीन तेरह सबै चौका - चौका लाय ।''[2]

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-3, पृ0 937-938

2- वही, भाग-2, पृ0 149

हिन्दुओं में व्याप्त ऊँच-नीच की यह भावना एकता के लिए किए गए सारे प्रयासों को विफल कर देती थी ।

भारतेन्दु युग के साहित्यकार, समाज में प्रचलित बाल-विवाह, बेमेल विवाह तथा कुलीन विवाह प्रथा के विरुद्ध थे और इस संबंध में सुधार के पक्षपाती थे क्योंकि बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने से बल और प्रीति का तो नाश होता ही था,[1] स्त्रियों के दुर्भाग्य विधवा हो जाने के मूल में भी बाल-विवाह और बेमेल विवाह की प्रथा थी । राधाकृष्ण दास ने ''दुःखिनीबाला'' नाटक का प्रणयन ही बेमेल विवाह से होने वाली हानि को बताने के लिए किया था । तत्कालीन समय में विधवा-समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया था । विधवा विवाह का प्रचलन न होने से समाज में व्यभिचार को बढ़ावा मिलता था --

''विधवा विवाह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो ।''

स्त्रियों की दीन-हीन दशा तथा पिछड़ेपन के मूल में उनका अशिक्षित होना ही था । 'उस युग में स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार का उद्देश्य सामने रखकर ही कई पत्रिकायें निकाली गई थीं, जिनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'बालाबोधनी' पत्रिका का प्रमुख स्थान है ।' स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियों की स्वतंत्रता आदि से संबंधित विषयों पर लेख प्रकाशित करने में 'हिन्दी प्रदीप' अग्रणी था । उस युग के साहित्यकार स्त्रियों की शिक्षा को देश की उन्नति के साथ जोड़कर देखते थे, '' यह बात तो सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक कि यहाँ की स्त्रियों की शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरुष विद्वान और पण्डित होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्खा होंगी तो उनमें आपुस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगा ।''[2]

1- ''बालकपन में ब्याहि प्रीतिबल नास कियो सब ।
करिकुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो ।''
— भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-2, पृ0 139

2- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ0 60 पर उद्धृत

इसके साथ ही भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने समाज में प्रचलित अन्यान्य कुरीतियों -- मद्यपान,[1] जादूटोना, भूतप्रेत में विश्वास तथा सन्यासियों के कथन में आंखमूंद कर विश्वास कर लेने का भी दृढ़ता से विरोध किया । वे समाज में प्रचलित कुरीतियों का निराकरण कर समाज को नए मार्ग पर ले आना चाहते थे । इसके लिए उन्होंने समाज के उच्चवर्ग के कोप की भी परवाह नहीं की । समाज द्वारा दिए गए 'क्रिस्तान' की उपाधि को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया, किन्तु समाज - सुधार के अपने लक्ष्य से मुँह नहीं मोड़ा । वास्तव में इस युग के साहित्यकारों का लक्ष्य '' साहित्य हो चाहे राजनीति.... पाठकों को देश दशा से परिचित करना तथा उन्हें सचेत करके पुरानी रूढ़ियों को तोड़ नयी विचारधारा की ओर ले आना होता था ।''[2]

हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता के आरम्भिक युग की उपर्युक्त राजनीतिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के विवेचन के दौरान हमने देखा कि तत्कालीन साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका । साहित्य पर तो इन क्षेत्रों की बदली हुई आधुनिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा ही था जिसकी तहत साहित्य ने जनता के जीवन में एक मानसिक परिवर्तन लाने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता ने भी इसमें अहम् भूमिका निभाई थी । तत्कालीन पत्रों में छपा हुआ साहित्य इसका उदाहरण

1- '' मुँह जब लागै तब नहिं छूटै । जाति मान धन सब कुछ लूटै ।।
पागल करि मोहिं करे खराब । क्यों सखि सज्जन, नहिं शराब ।।''

— भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-2, पृ0 812

2- डॉ0 रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ0 28

है कि किस तरह बदली हुई परिस्थितियों में साहित्य की भूमिका भी बदल रही थी और पत्रकारिता का नया स्वरूप भी बन रहा था । 'हिन्दी प्रदीप' इस हलचल से अछूता नहीं था बल्कि इस हलचल के समय अहम् भूमिका निभाने वाला पत्र था ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने अथक परिश्रम से हिन्दी साहित्य को एक नया मोड़ दिया था । उन्होंने 'कविवचन सुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के माध्यम से तत्कालीन यथार्थ को वाणी देने की महत्वपूर्ण कोशिश की थी लेकिन हिन्दी भाषा का एक स्वरूप स्थिर करने के साथ ही गद्य की विभिन्न विधाओं – आलोचना, निबंध, नाटक, उपन्यास आदि के जन्म और विकास में 'हिन्दी प्रदीप' ने पं० बालकृष्ण भट्ट के सम्पादकत्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा समाजोन्मुख साहित्यिक पत्रकारिता के नये मानदण्ड स्थापित किए ।

—

दूसरा अध्याय

आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्रकारिता और 'हिन्दी प्रदीप'

आरम्भिक युग का साहित्य पत्रकारिता सापेक्ष है । आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ तथा विकास तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हो रहा था, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते । इस सन्दर्भ में पण्डित बालकृष्ण भट्ट का यह कथन उल्लेखनीय है कि "पाठक ! इस बत्तीस साल की जिल्दों में कितने उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबंध भरे पड़े हैं । वे सब यदि पुस्तकाकार छपा दिये जायँ तो निस्संदेह हिन्दी साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय ।"[1] 'हिन्दी प्रदीप' के सम्बन्ध में पं० बालकृष्ण भट्ट का उपर्युक्त कथन आरम्भिक युग की अन्यान्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के सन्दर्भ में भी काफी हद तक सही है ।

हिन्दी की साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के विवेचन से पूर्व प्रेस एवं पत्रकारिता के विकास के सम्बन्ध में संक्षेप में जान लेना उचित है क्योंकि प्रेस और पत्र का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रेस के आविष्कार के अभाव में आधुनिक पत्र का अस्तित्व में आना असंभव था ।

आधुनिक काल से पूर्व भी पत्र निकला करते थे किन्तु वे हस्तलिखित होते थे । ये हस्तलिखित पत्र समाज के उच्चवर्ग के लिए होते थे, सर्वसाधारण तक इनकी पहुँच न थी । आधुनिक काल में प्रेस के आविष्कार ने पत्र को सार्वजनिक रूप दिया तथा सर्वसाधारण को पत्र के महत्त्व से परिचित कराया ।

यों तो संसार में छपाई कला के आविष्कारक चीनी माने जाते हैं जिनका पहला समाचार पत्र लगभग 1500 वर्षों[2] तक निकलता रहा किन्तु पन्द्रहवीं शती के मध्य में वास्तविक अर्थों में मुद्रण कला का जन्म हुआ । मुद्रण-कला का आविष्कार करने का श्रेय

1- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1895, पृ० 17

2- पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 2

जर्मनी के गुटेनबर्ग को दिया जाता है । सन् 1452 में गुटेनबर्ग ने प्रति पृष्ठ 42 पंक्तियों में बाइबिल प्रकाशित कर मुद्रण-कला के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया था । 15 वीं शताब्दी में गुटेनबर्ग द्वारा आविष्कृत मुद्रण-कला की आधुनिक पद्धति को उन्नीसवीं शताब्दी में ही विकसित किया जा सका ।[1]

भारत में प्रेस को स्थापित करने का श्रेय अंग्रेजों को नहीं अपितु पुर्तगाली मिशनरियों को जाता है ।[2] पुर्तगाली मिशनरियों ने सन् 1550 में यूरोप से दो प्रेस मंगवाकर गोआ में स्थापित किए । गोआ में प्रेस-स्थापना के पीछे उनका उद्देश्य बाइबिल छापकर ईसाई-धर्म का प्रचार करना था । गोआ में प्रेस स्थापित हो जाने के सात वर्ष बाद मलयालम भाषा में पहली ईसाई पुस्तक छपी ।

किंतु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत में मूलतः धर्मसंबंधी पुस्तकें ही छपी जाती रहीं । सन् 1780 में कलकत्ता से जेम्स आगस्ट हिकी के संपादन में पहला समाचार पत्र 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' अथवा 'हिकीज बंगाल गजट' प्रकाशित हुआ । 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' एक स्वतंत्र विचारों वाला राजनीतिक और व्यापारिक पत्र था ।[3] इस पत्र का अधिकांश भाग विज्ञापनों तथा राजनीतिक टिप्पणियों से भरा रहता था ।

'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' अपने समय का निर्भीक पत्र था । इस पत्र में समय-समय पर तत्कालीन गवर्नर जनरल 'वारेनहेस्टिंग्ज' की नीतियों तथा काउंसिल के अन्य सदस्यों तथा 'इम्पी' की तीव्र आलोचना छपा करती थी । अतः उसी वर्ष गवर्नर जनरल ने उक्त पत्र की डाक सुविधा बन्द कर दी तथा पत्र-प्रकाशन के सभी अधिकार छीन

1- ''कई अज्ञात और आरम्भिक प्रयोगों के अनन्तर गुटेनबर्ग ने सबसे पहले वह तकनीक उपलब्ध की जिसे केवल उन्नीसवीं शती में ही विकसित किया जा सका ।''
— कृष्णाचार्य, हिन्दी के आदि मुद्रित ग्रंथ, ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ० 2

2- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 6

3- हिकी ने 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' के नीचे छापा था, '' राजनीतिक और व्यापारिक साप्ताहिक खुला तो सब पार्टियों के लिए है, पर प्रभावित किसी से नहीं है।''
—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 22 पर उद्धृत

लिए । किन्तु हिकी ने फिर भी अपने विचारों में कोई परिवर्तन नहीं किया । इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' से ही आधुनिक पत्रकारिता का आरम्भ होता है ।

सन् 1780 में कलकत्ता से ही दूसरा पत्र 'इण्डिया गजट' निकला । 'इण्डिया गजट' के प्रकाशक बी० मैसिक और पीटर रीड थे । इसके बाद सन् 1784 में 'कलकत्ता गजट', फरवरी 1785 में 'बंगाल जनरल', अप्रैल 1785 में 'ओरियन्टल मैगजीन या कलकत्ता एम्युजमेंट' तथा फरवरी 1786 में 'कलकत्ता क्रोनिकल' प्रकाशित हुए ।[1]

समाचार पत्र निकालने के प्रयत्न अन्य प्रदेशों से भी हुए । सन् 1785 में मद्रास से 'मद्रास कोरियर', सन् 1795 में 'मद्रास गजट' तथा 'इण्डिया हेराल्ड' प्रकाशित हुए । बम्बई से निकलने वाले पत्र 'बम्बई हेराल्ड' (1789) तथा 'कोरियर' थे ।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों में प्रेस व पत्रकारिता के विकास की गति धीमी रही क्योंकि 'मारक्वीस-वेलस्ले' का दृष्टिकोण प्रेस के प्रति कड़ा था । उस समय प्रेस बंद कर देने के साथ ही संपादकों को कारावास तथा देश निकाला तक दे दिया जाता था । लार्ड मिन्टो तथा लार्ड मायरा के शासन काल तक यह सेन्सर-शिप चलती रही किन्तु लार्ड हेस्टिंग्ज ने 19 अगस्त 1818 को सेंसर की उक्त नीति को हटा दिया तथा सम्पादकों के मार्गदर्शन के लिए कुछ नियम बना दिये । इन नियमों के तहत सम्पादकों को उन विषयों को प्रकाशित करने की मनाही कर दी गई थी जिनसे सरकार की सत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था ।

इस समय तक प्रकाशित होने वाले सभी पत्रों के सम्पादक अंग्रेज थे तथा पत्रों का माध्यम अंग्रेजी था ।[2] सर्वप्रथम सन् 1818 में देशी भाषा का पहला पत्र 'दिग्दर्शन' प्रकाशित हुआ । इस पत्र को सीरामपुर के बैपटिस्ट मिशनरियों ने प्रकाशित किया था । बैपटिस्ट मिशनरियों द्वारा किए गए शिक्षा प्रचार के कार्यों के समान ही 'दिग्दर्शन' पत्र का प्रकाशन भी ईसाई धर्म-प्रचार से सम्बद्ध था ।[3]

भारतीय पत्रकारिता के इतिहास का नया अध्याय उस समय आरम्भ हुआ जब स्वयं भारतीयों के संयोजकत्व तथा सम्पादकत्व में पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ । 'दिग्दर्शन'

1- एस नटराजन, हिस्ट्री आव दी प्रेस इन इण्डिया, पृ० 19

के प्रकाशन के पश्चात् पहली बार भारतीय प्रकाशक राजेन्द्र राय तथा सम्पादक गंगाधर भट्टाचार्य ने बंगला भाषा में 'बंगाल गजट' प्रकाशित किया ।[1] इस दिशा में राजा राममोहन राय का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने सन् 1821 ई० में 'सम्वाद - कौमुदी' नामक बंगला पत्र प्रकाशित किया ।[2] 'सम्वाद - कौमुदी' सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने वाला पत्र था । इस पत्र का मुख्य उद्देश्य पतनशील सामन्ती व्यवस्था के आश्रय में पल रही 'सतीप्रथा' जैसी कुप्रथा के उन्मूलन के लिए प्रयास करना था । राजा राम मोहन राय ने 'दिग्दर्शन' के जवाब में 'ब्रह्मैनिकल मैगजीन' निकाला तथा फारसी में 'मीरातुल अखबार' का प्रकाशन भी किया था ।

किन्तु हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन 26 मई 1826 में हुआ । 'उदन्त मार्तण्ड' के सम्पादक पं० युगुल किशोर थे । इस सन्दर्भ में स्वयं पंडित युगुल किशोर का कथन उल्लेखनीय है, ''यह उदन्त मार्तण्ड अब पहिले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंगरेजी और बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने औ पढ़ने वालों को ही होता है । इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ औ समझ लेय पराई अपेक्षा न करें औ अपने भाषा की उपज न छोड़ें इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुनन के निधान सबके कल्याण के विषय गवर्नर जेनेरल बहादुर की आयस से जैसे साएस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाठा... ।''[3]

'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन युगुल किशोर ने 'हिन्दुस्तानियों के हित के हेत' तथा उन्हें परावलम्बन से मुक्ति दिलाकर स्वतंत्र दृष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया था । साप्ताहिक पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' प्रत्येक मंगलवार को कलकत्ता से प्रकाशित होता था । इसमें सरकारी खबरें, अफसरों की नियुक्तियाँ, जहाज के आने जाने का समय, व्यापार - सम्बन्धी बातें, तथा देश-विदेश के समाचार प्रकाशित किए जाते थे ।

1- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 34
2- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 20
3- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 97 पर उद्धृत

'उदन्त मार्तण्ड' अपने समय का सचेत पत्र था जो हिन्दी समाज के हित के लिए बराबर संघर्ष करता रहा । किन्तु सरकारी संरक्षण के अभाव तथा ग्राहकों की अनुदारता [1] के कारण दीर्घायु न हो सका । लगभग डेढ़ साल निकलकर, यह 4 दिसम्बर सन् 1827 को हमेशा के लिए बंद हो गया । 'उदन्त मार्तण्ड' के अंतिम अंक में पत्र के बंद किए जाने की घोषणा करते हुए बड़े दुख के साथ सम्पादक ने लिखा था -

''आज दिवस लौं उग्यौ मार्तण्ड उद्दन्त
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अंत ।'' [2]

'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन के साथ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की एक परम्परा चल पड़ी । सन् 1826 से लेकर सन् 1868 (कविवचन सुधा का प्रकाशन वर्ष) तक के 42 वर्षों में अनेक दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र निकले किन्तु अधिकांश पत्र सामाजिक और धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रकाशित किए गए थे ।[3]

1- ''उदन्त मार्तण्ड कोई डेढ़ वर्ष - ठीक-ठीक एक वर्ष सात महीने तक प्रकाशित होता रहा । परन्तु उन दिनों कलकत्ते में हिन्दी भाषियों की संख्या चाहे जितनी हो, उनमें दो रुपये महीने खर्च करके इसे पढ़ने की रुचि अवश्य ही न थी । सरकार 'जामे जहांनुमा' नाम के फारसी पत्र और 'समाचार-दर्पण' नाम के बंगला पत्र को आर्थिक सहायता देती थी । इसी के भरोसे युगुलकिशोर जी ने भी उदन्त मार्तण्ड निकाल दिया था । परन्तु वह न मिली और किसी धनी-मानी की सहायता मिलने की आशा न रही, तब यह मार्तण्ड अस्ताचल को चला गया ।''

-अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 98

2- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 98 पर उद्धृत

3- "Up to 1867 the progress of Hindi Journalism was slow-mostly confined to weekly papers espousing orthodox religious views and Hindi-Urdu periodicals. It continued to interest itself in the social and religious subjects but the entry of Bhartendu Harishchander into the field of Hindi Journalism effected a far reaching change."

S. Natrajan, A. History of the Press in India, Page 104

इन पत्रों का उद्देश्य कहीं से भी आधुनिक हिन्दी साहित्य का निर्माण करना नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् 1868 में काशी से 'कविवचन सुधा' के माध्यम से हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता की नींव डालते हुए हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा दी, जिसकी ओर अटरौही ने भी संकेत किया है, '' काशी ने ही भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जैसा पत्रकार हिन्दी को दिया जिसने न सिर्फ हिन्दी में साहित्यिक पत्रकारिता की नींव डाली वरन् 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता को श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकाएँ भी प्रदान की।''[1]

'कविवचन सुधा'[2] जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है आरम्भ में कवियों की कविताओं का संग्रह प्रकाशित करती थी। पुराने कवियों की कविताओं का प्रकाशन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। इसमें कविदेव कृत 'अष्टयाम', 'दीनदयाल गिरिकृत 'अनुरागबाग', चंदकृत 'रायसा', मलिक मुहम्मद कृत 'पद्मावत', कबीर की 'साखी', बिहारी के दोहे, गिरिधर दास कृत 'नहुष नाटक' तथा शेख सादी कृत 'गुलिस्तां' का छन्दोमय अनुवाद आदि रचनाएँ प्रकाशित हुईं।[3] किन्तु बाद में युग की आवश्यकता के अनुरूप इसमें पद्य के साथ ही नयी संवेदना से युक्त 'जीवन संग्राम की भाषा' गद्य विविध रूपों में छापा जाने लगा[4] तथा इसमें साहित्यिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक,

---

1- आलोचना, अक्तूबर - दिसम्बर 1970, पृ0 5।

2- कविवचन सुधा आरंभ में मासिक प्रकाशित हुई। फिर क्रमशः पाक्षिक एवं साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होने लगी।

3- बाबू शिवनंदन सहाय, हरिश्चन्द्र, पृ0 67-68

4- ''शीघ्र ही कविवचन सुधा' में गद्य को स्थान मिलने लगा क्योंकि गद्य के बिना किसी सामाजिक आन्दोलन का संगठन या संचालन संभव न था। गद्य-लेखन को बढ़ावा देने में समूचे देश की स्थिति के अलावा हिन्दी भाषी प्रदेश की विशेष परिस्थिति भी हरिश्चन्द्र को प्रेरित कर रही थी। समूचे देश की स्थिति पराधीनता की थी, हिन्दी प्रदेश की विशेष परिस्थिति पिछड़ेपन की थी।''
— डा0रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ0332

भाषा-संबंधी, हास्य-व्यंग्य से सरस सभी प्रकार की रचनाओं को स्थान दिया गया । इसका सिद्धान्त वाक्य था –

"बल गगन सो सज्जन दुखी मति होहिं हरिपद मति रहै ।
उपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत लहै, कर दुख बहै ।
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होहिं जग आनंद लहै ।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृतबानी सब कहै ।।"[1]

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों को 'हरिपद मति रहै' कहना जैसा अलंकार था, वैसे ही पतनशील सामन्ती मूल्यों में विश्वास करने वाले समाज से 'उपधर्म छूटै' तथा 'नारि नर सम होहिं' कहना उन्हें क्रोधोन्मत्त करना था । इसी प्रकार अंग्रेज सरकार से 'स्वत्व निज भारत गहै' एवं 'कर दुःख बहै' कहना पत्र के भविष्य पर अंकुश लगवाना था । किन्तु उस नवजागरण के काल में भारतेन्दु जैसे संवेदनशील, भविष्य द्रष्टा साहित्यकार में इस प्रकार के व्यापक दृष्टिकोण का होना अपेक्षित ही था । यही कारण है कि उन्होंने अपने लेखों में नारी, धर्म, स्वदेश, भाषा, साहित्य आदि सभी के प्रति इस व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया ।

'कविवचन सुधा' में छपने वाले लेख स्वाधीन, भावपूर्ण तथा ललित हुआ करते थे । श्री राधाकृष्ण दास ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा था कि, "... इसके लेख ऐसे ललित होते थे कि यद्यपि हिन्दी भाषा के प्रेमी उस समय गिने हुए थे तथापि लोग चातक की भांति टकटकी लगाये रहते थे ।"[2] किन्तु इतना लोकप्रिय होते हुए भी पत्र समय पर नहीं निकल पाता था । पत्र नियत-समय पर पाठकों के पास पहुँच सके, इस उद्देश्य से सन् 1880 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कविवचन सुधा' को पंडित चिन्तामणि राव बालकृष्ण धड़फले को सौंप दिया । पत्र प्रकाशन में नियमितता तो आ गयी किन्तु उसका स्तर गिर गया तथा उसकी नीति में भी परिवर्तन आ गया । 'इल्बर्ट बिल आन्दोलन' में

1- बाबू शिवनंदन सहाय, हरिश्चन्द्र, पृ0 68

2- डॉ0 श्याम सुन्दर दास, राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, भाग-1, पृ0 498

'कविवचन सुधा' ने राजाशिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का साथ दिया । इसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर इसने ''एक कालम भी काला न किया ।''[1]

'कविवचन सुधा' के इस बदले हुए रंग-ढंग की निन्दा करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था कि, ''सुधा तू निश्चय समझ जिस घरीसे तूने अपने लेख का सब रंग-ढंग बदल राजा की शरीक हुई सो कभी होना नहीं है यह वह गुड़ नहीं है जिसे चींटे खायेंगे ।.... हम लोगों का मन्दादर तो सुधा की ओर से तभी से हो गया जब से सुधा का प्रवर्त्तक रसिक शिरोमणि उस चन्द्र ने अपनी चांदनी इस पर से हटाय इसे घोर अंधकार में छोड़ दिया ।''[2]

अपने सिद्धान्तों से च्युत हो, 'कविवचन सुधा' ने साधारण लोगों की सहानुभूति खो दी तथा किसी प्रकार घिसटती हुई कुछ दिन और प्रकाशित हुई । जनवरी 1885 में भारतेन्दु की मृत्यु के बाद 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन बंद हो गया ।

हिन्दी भाषा की 'यथार्थ उन्नति के लिए'[3] तथा जनता को विदेशी शासन के शोषक एवं उत्पीड़क रूप से परिचित कराने के उद्देश्य से प्रेरित होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काशी से ही, सन् 1873 में मासिक पत्र 'हरिश्चन्द्र मेगजीन'का प्रकाशन किया । 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' का प्रकाशन 'कविवचन सुधा' से संबंधित था, क्यों कि, ''उन्होंने देखा कि बिना मासिक पत्र निकले और अच्छे-अच्छे सुलेखकों के प्रस्तुत किए भाषा की यथार्थ उन्नति न होगी । यह सोच उन्हें केवल 'कविवचन सुधा' से सन्तोष न हुआ और सन् 1873 में 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' का प्रकाशन हुआ ।''[4]

1- बाबू शिवनंदन सहाय, हरिश्चन्द्र, पृ० 71

2- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1881, पृ० 22

3- ''जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसके जनता ने उत्कंठा पूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ । भारतेन्दु ने नई सुधरी हिन्दी का उदय इसी समय से माना है । उन्होंने 'कालचक्र' नाम की पुस्तक में नोट किया है कि 'हिन्दी नई चाल में ढली', सन् 1873 ई०।''
— रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 313

4- सं० श्याम सुन्दरदास, राधाकृष्ण दास ग्रंथावली, भाग-1, पृ० 361

इस पत्रिका ने सर्वप्रथम हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में विषय संबंधी विविधता एवं विशदता का समावेश किया था । इसमें साहित्य, विज्ञान, धर्म, राजनीति, पुरातत्व, आलोचना, नाटक, इतिहास, उपन्यास, कविता , गद्य, हास्य - सभी प्रकार के विषयों से संबंधित रचनाएँ प्रकाशित होती थी ।[1] 'यूरोपीय के प्रति भारत वर्षीय के प्रश्न', 'अंग्रेजों से हिन्दुस्तानियों का जी क्यों नहीं मिलता' जैसे राजनीतिक लेख, 'वसंतपूजा' तथा 'सबेजान गोपाल की', जैसे व्यंग्यपूर्ण लेख, एवं 'सरयूपार की यात्रा' 'कैप हरैया बाजार' जैसे यात्रापरक निबंध इसी पत्रिका में छपे थे ।

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन 'मेडिकल हाल प्रेस' से होता था । इसका वार्षिक मूल्य 6 रुपये था । 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' की प्रतिमास 500 प्रतियाँ छपती थी । इससे सिद्ध होता है कि भारतेन्दु - युग की अन्य पत्रिकाओं की तरह इसे आर्थिक कष्ट नहीं उठाना पड़ा होगा । आरम्भ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' की सौ प्रतियाँ सरकार लेती थी किन्तु देश भक्तिपूर्ण रचनाओं को छपता देखकर, अंग्रेज सरकार ने इस पर 'कविवचन-सुधाकर' नामक अश्लील ग्रंथ छापने का दोष लगाकर इसे लेना बंद कर दिया ।

देश, भाषा एवं साहित्य की उन्नति चाहने वाले देशभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपनी पत्रिका का नाम अंग्रेजी में रखना संभवतः उचित नहीं लगा होगा अतः उन्होंने सन् 1874 में आठ अंकों के बाद 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का नाम बदलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया ।

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का उद्देश्य देशवासियों को अंग्रेजी शासन की शोषण नीति से परिचित कराना था । 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' ने मार्च 1878 में लागू किये गये 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' का तीव्र विरोध किया था । 'हिन्दी प्रदीप' ने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का समर्थन करते हुए तथा 'प्रेस एक्ट' का विरोध करते हुए लिखा था कि "...वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट सर्वथा दोष की खान है... 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के इस विचार से हम

1- 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के मुख पृष्ठ पर छपा रहता था,- " A monthly journal..... containing articles on literary, scientific, political, and religious subjects, antiquities, reviews, drama history, novels, poetical selections, gossips, humour and wit." - डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ063 पर उद्धृत

सहमत हैं,... हमें जी न तोड़ना चाहिए किन्तु कलम के पीछे जी दौड़ाते जायँ।''[1]

सन् 1879 तक 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' स्वतंत्र रूप से निकलती रही किन्तु सन् 1880 में समयाभाव के कारण तथा पं० मोहनलाल विष्णु लाल पंड्या के आग्रह पर भारतेन्दु जी ने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' को 'मोहन चन्द्रिका' में मिला दिया। इस सम्मिलित 'चन्द्रिका' के सम्पादक हुए, पं० नंद लाल विष्णुलाल पंड्या। एक वर्ष बाद इसमें संस्कृत का 'विद्यार्थी' भी मिला दिया गया। दूसरे संपादकों के हाथ में जाते ही पत्रिका का स्तर गिर गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इसे देख बहुत दुःखी हुए। उन्होंने फिर से इसका संपादन - भार संभाला तथा 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित किया। किन्तु 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के दो ही अंक निकल पाये थे कि सन् 1885 में भारतेन्दु जी मृत्यु के साथ 'कविवचन सुधा' के समान 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का प्रकाशन भी बंद हो गया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के प्रकाशन के पश्चात् सन् 1877 तक हिन्दी में किसी उल्लेखनीय पत्र का प्रकाशन नहीं हुआ। 1 सितम्बर 1877 को पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने इलाहाबाद से मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन आरम्भ किया। वृहत्तर उद्देश्य के लिए समर्पित 'हिन्दी प्रदीप' स्वाधीन विचारों का समर्थक था। 'हिन्दी प्रदीप' अपने समय का श्रेष्ठ पत्र था जिसने ''अपने दीर्घ जीवन तथा पठनीय सामग्री से अनेक पत्रों के अभाव की पूर्ति की।''[2]

'हिन्दी प्रदीप' क्योंकि मेरा प्रतिपाद्य विषय है अतः इसका कुछ विस्तृत विवेचन इस अध्याय के अंत में किया जायगा।

'हिन्दी प्रदीप' के दीर्घ जीवन काल में हिन्दी के अनेक साहित्यिक पत्र निकले, जिनमें 'भारत मित्र' (सन् 1878), 'सार सुधानिधि' (सन् 1879), 'उचितवक्ता' (सन् 1880), 'आनंदकादम्बिनी' (सन् 1881), 'ब्राह्मण' (सन् 1883), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (सन् 1896) तथा 'सरस्वती' (सन् 1900) आदि प्रमुख हैं।

1- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1878, पृ० 1-5

2- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ० 23

कलकत्ता से हिन्दी का कोई पत्र निकलता न देखकर [1] पं० छोटूलाल मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 17 मई 1878 को [2] 'भारत मित्र' का प्रकाशन आरम्भ किया । 'भारत मित्र' का शीर्ष वाक्य था --

''सगुण खनित विचित्र अति खोलि सबके चित्र
शोधि नर चरित्र यह भारतमित्र पवित्र ।''

आरम्भ में यह पत्र पाक्षिक था । अपेक्षित आर्थिक सहायता मिलने पर दसवें अंक से 'भारत मित्र' साप्ताहिक हो गया । सन् 1897 में उक्त पत्र का दैनिक संस्करण भी निकलने लगा जो कुछ महीने निकलने के उपरान्त बंद हो गया । किन्तु सन् 1898 में 'भारत मित्र' का दैनिक संस्करण पुनः निकला जो एक साल निकलकर फिर बंद हो गया । सन् 1899 में यह पुनः बड़े आकार में प्रकाशित हुआ । 'भारत मित्र' की एक प्रति का मूल्य दो पैसे था ।

अपने दीर्घ जीवन काल में 'भारत मित्र' अनेक सम्पादकों के साथ से गुजरा । इसके आदि सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र थे तथा पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र इसके प्रबंध सम्पादक थे । सन् 1899 में बाबू बाल मुकुन्द गुप्त इसके सम्पादक नियुक्त हुए और सन् 1907

1- ''... आज तक ऐसा कोई समाचार-पत्र नहीं प्रचारित हुआ जिससे हिया के हिन्दुस्तानी लोग भी पृथ्वी के दूसरे लोगों की तरह अपने अखबार अपने बोली में पृथ्वी की समस्त घटना को जान सकें... बहोत से हिन्दुस्तानियों को सांसारिक खबर जानने के लिए बंगालियों का मुंह ताकते देखकर हमारे चित्त में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यदि एक ऐसा समाचार-पत्र प्रचलित हो कि जिसको हमारे हिन्दुस्तानी और मारवाड़ी लोग अच्छी तरह पढ़ सकें तो इससे हमारे समाज की अवश्य उन्नति होगी ।''

-- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 45। पर उद्धृत

2- राधाकृष्ण दास के अनुसार 'भारत मित्र' का प्रकाशन सन् 1877 में हुआ किन्तु कृष्ण बिहारी मिश्र, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के अनुसार 'भारत मित्र' का प्रकाशन वर्ष सन् 1878 है, जो सही है ।

तक इसके सम्पादक रहे। इनकी मृत्यु के बाद अनेक लोगों ने इसका सम्पादन किया। पं० छोटूलाल मिश्र के योग्य सम्पादकत्व की चर्चा करते हुए श्री राधाकृष्ण दास लिखते हैं कि, ''जब तक यह पत्र पं० छोटूलाल मिश्र के हाथ में था तब तक उत्तमता से चला... जब से उक्त पण्डित जी ने हाथ खींचा कई सम्पादक आए और उसके कई रंग बदले।''[1]

आरम्भ में 'भारत मित्र' प्रमुख रूप से एक राजनीतिक पत्र था। राजनीतिक चेतना एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास ही इसका लक्ष्य था। पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के शब्दों में, '' इसका मुख्य उद्देश्य एक राजनीतिक पत्र का अभाव दूर करना था..।''[2] किन्तु बाल मुकुन्द गुप्त ने अपने सम्पादकत्व में स्वयं भाषा, साहित्य, व्याकरण, साहित्यिक संस्मरण, धर्म इत्यादि विषयों पर लेख छाप कर 'भारत मित्र' को पूर्णता प्रदान की।[3]

'भारत मित्र' अंग्रेजों की शोषण-नीति का पर्दाफाश करने वाला, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार कर सामाजिक चेतना जगाने वाला तथा देश के वाणिज्य - व्यापार की उन्नति के साथ देश-हित की चिंता में व्यग्र रहने वाला एक राष्ट्रीय पत्र था। 'भारत मित्र' के पहले ही अंक में छपा था कि, ''समाचार पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है...।'' 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' के जमाने में इस प्रकार का कथन 'भारत मित्र' की निर्भीकता का परिचायक है।

यही कारण है कि 'भारत मित्र' की प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था कि, ''यह साप्ताहिक सरल भाषा का पत्र अनेक उत्तमोत्तम विषयों से पूर्ण कलकत्ता राजधानी से निकलता है।''[4]

कलकत्ता से ही पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने पं० सदानंद मिश्र के सक्रिय सहयोग से सन् 1879 में साप्ताहिक पत्र 'सार सुधानिधि' का प्रकाशन आरम्भ किया। 'सार-

---

1- सं० श्याम सुन्दर दास, राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, भाग-1, पृ० 503
2- पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 156
3- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 540
4- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1879

सुधानिधि' को अनेक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त था । इस पत्र के सम्पादक पं० सदानंद मिश्र, संयुक्त संपादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, सहायक संपादक पं० गोविन्द नारायण और व्यवस्थापक पं० शम्भुनाथ थे । 'सारसुधानिधि' पत्र 'सारसुधानिधि' यंत्रालय से छपता था । इस पत्र का वार्षिक मूल्य स्वदेश में पांच रुपये तथा विदेश में छह रुपये दस आना था ।

'सारसुधानिधि', 'भारत मित्र' की ही भांति राजनीतिक विषय - प्रधान पत्रिका थी, जिसमें राजनीतिक - सामाजिक आन्दोलनों को उभारने वाले लेख ही अधिकतर छपते थे । इसका सिद्धान्त वाक्य था ।

कुमुद रसिक मनमोदकर हरि दुरद तम सरवत्र
जगमय दरसवि अचल सारसुधानिधिपत्र ।।
काव्य रसायन यत्र तत्र सुदर्शन नृप चरित ।सारसुधानिधि पत्र दोष व्यसन
ज्वर विषमहर ।''[1]

'सारसुधानिधि' एक राष्ट्रीय पत्र था, जिसमें राजनीतिक विषयों की प्रधानता रहती थी । कांग्रेस के जन्म से 5 वर्ष पहले ही सन् 1880 में, 'भारत वर्ष में प्रतिनिधि शासन प्रणाली की आवश्यकता' की ओर संकेत करके इस पत्र ने अपनी राजनीतिक जागरूकता का परिचय दिया था ।

राजनीतिक दृष्टि से जागरूक पत्र होते हुए भी 'सारसुधानिधि' में कहीं-कहीं राजभक्ति का स्वर मिलता है । गो-वध आन्दोलन के सिलसिले में लंदन जा रहे डेपुटेशन के प्रतिनिधि राजभक्त राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की प्रशंसा में लेख छापने पर 'हिन्दी प्रदीप' ने ''सारसुधानिधि की हाँ में हाँ'' शीर्षक से, उसकी आलोचना करते हुए लिखा था कि, '' 29 अगस्त के सारसुधानिधि' में सम्पादक महाशय ने कई एक विषय उत्तम लिखे हैं जिनमें राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० का विलायत गमन प्रस्ताव भी है... महाराज काशी नरेश को गोवध उठाने के लिए कोई दूसरा आदमी ढूंढ़े नहीं

1- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 452

मिलता जो ऐसे स्वार्थ प्रवीण और गौरांगों के दासानुदास के इस महत्कर्म में सहकार करते हैं... जैसा सम्पादक सारसुधानिधि ने लिखा... कहीं अच्छी घी में ही मिलाई .... जाय। हिकमती लोग उक्ति - युक्ति से चूक सकते हैं ? ''[1] पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने भी इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि, '' सारसुधानिधि के प्रत्येक शब्द में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध की स्पष्ट ध्वनि है। बीच-बीच में राजभक्ति का पुट अवश्य है।''[2]

संभवतः 'सारसुधानिधि' अपने बारह वर्ष के जीवन काल में एक बार बंद हुआ था क्योंकि मई 1880 में 'हिन्दी प्रदीप' ने 'सारसुधानिधि' के पुनः प्रकाशन पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए लिखा था कि, '' हम अत्यंत प्रसन्नता पूर्वक अपने उपकारी बांधव के पुनर्जन्म का सुसमाचार प्रकट करते हैं और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि अब यह सदा निर्विघ्न हो चिरन्जीवी बना रहे।''[3]

किन्तु 'सारसुधानिधि' दीर्घायु न हो सकी। इस पत्र के बंद होने पर पं० राधा कृष्ण दासजी ने बड़े दुख के साथ लिखा था कि, '' सारसुधानिधि ऐसे उत्तमोत्तम पत्र के बंद हो जाने से हिन्दी समाज में अवश्य एक कलंक का धब्बा लगा। यह पत्र कभी भी बंद न होता यदि इसके ग्राहक लोग नियत मूल्य दिये जाते परन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य-वश हम लोगों को उसका दर्शन दुर्लभ हो गया।''[4]

अर्थाभाव के साथ ही पत्र बंद होने के अन्य कारणों की ओर संकेत करते हुए पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी लिखते हैं कि, ''पत्र बंद होने के कुछ पहले ही सम्पादक

1- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1881, पृ० 22

2- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 131

3- हिन्दी प्रदीप, मई 1880, पृ० 23

4- सं० श्याम सुन्दर दास, राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, भाग-1, पृ० 507

के ध्यान न दे सकने के कारण इसका स्तर गिरने लगा था... उस समय पत्र की ऊपरी सूरत में तो कोई फर्क न आया था पर भीतरी दशा बिगड़ चली थी... इधर - उधर की नकल से अधिक पत्र भरा जाता था, जिसका पत्र बंद करने की सूचना देते समय दुःख के साथ सम्पादक महोदय ने उल्लेख भी किया था।''[1]

इस प्रकार बारह वर्ष की अल्पावधि में ही 'सारसुधानिधि' का प्रकाशन बंद हो गया।

'भारत मित्र' तथा 'सारसुधानिधि' के प्रकाशन में जिन पं० दुर्गाप्रसाद का हाथ था, उन्होंने ही 7 अगस्त 1880 में कलकत्ता से साप्ताहिक पत्र 'उचितवक्ता' का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र के सम्पादक व प्रकाशक स्वयं पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। आरम्भ में 'उचितवक्ता' सरस्वती यंत्र से छपता था, किन्तु प्रकाशन के तीन वर्ष बाद उचितवक्ता यंत्र से छपने लगा।

'उचितवक्ता' का वार्षिक मूल्य डाक-व्यय सहित तीन रुपया दो जाता था। आरम्भिक युग की अन्य पत्रिकाओं की तुलना में 'उचितवक्ता' का मूल्य बहुत कम था। यही कारण है कि इसके ग्राहकों की संख्या डेढ़ दो हजार के लगभग थी। बाबू बाल मुकुन्द गुप्त ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि, '' इस पत्र में कई गुण विशेष थे। मूल्य बहुत कम था। एक बार रायल एक शीट पर छपता था और केवल एक पैसे में बेचा जाता था। फिर छपाई-सफाई,कागज आदि सब बातें इसकी अच्छी होती थीं। इसके अतिरिक्त इसके तीखे और चटपटे लेख और चुटकले होते थे जो किसी को माफ नहीं करते थे। एक बार इसके ग्राहक भी दो डेढ़ हजार के लगभग हो गए थे। यह बात उस समय तक किसी पत्र को हासिल नहीं हुई थी... ।''[2]

'उचितवक्ता' का सिद्धान्त वाक्य था, ''हितंमनोहारि च दुर्लभं वचः।'' सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने सम्पादकीय में 'उचितवक्ता' के उद्देश्य को स्पष्ट करते

1- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 167

2- पं० श्री शंकर भट्ट शर्मा, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, गुप्त निबंधावली, भाग-1, पृ० 335

हुए लिखा था कि, ''... दोष दिखाने वाले को भी उचित वक्ता और समदर्शी होना उचित है, अन्यथा झूठे दोष दिखाकर अकारण ही किसी को आक्रमण करने के सिवाय बखेड़ा बढ़ाकर गाली खाने के और कुछ फल नहीं होता अतएव ऐसे स्थल में यथार्थ समदर्शी उचित - परामर्श दाता उचित वक्ता का अत्यंत ही प्रयोजन है । पाठक । इस निमित्त आज यह आप लोगों के सम्मुखीन है ।... अपने यथार्थ दोषों को इसमें अंकित देखकर भी यदि कोई इस पर क्रुद्ध होंगे तो इस विषय में कुछ दोष नहीं कारण ''हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।''[1]

'भारतमित्र' तथा 'सारसुधानिधि' की ही तरह 'उचितवक्ता' भी प्रमुख रूप से राजनीतिक पत्र था । इस पत्र ने निर्भीक होकर अंग्रेजों की शोषण नीति का पर्दाफाश किया था । ''भारत वर्ष से इंग्लैंड को लाभ होता है या नहीं'', शीर्षक लेख में ''उचितवक्ता'' ने लिखा था कि, ''भारत वर्ष को अंग्रेज राजपुरुषों ने शोषण कर लिया है । इसे ऐसा दुख है कि यह अब अस्थिचर्म विशिष्ट हो गयी है । इसके शरीर में रक्त का लेशमात्र भी नहीं रहा वस्तुतः भारतवर्ष की न्यायी दीन देश आजकल पृथिवी में अतिविरल है ।''[2] इसीप्रकार विलायत में भारतीय प्रतिनिधि की आवश्यकता पर बल दिया था तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा शुरू किये गए 'स्वदेशी आन्दोलन' को आगे बढ़ाते हुए जनता से स्वदेशी वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए अपील की थी । राजनीतिक विषयक लेखों के साथ ही 'उचितवक्ता' में हिन्दी भाषा से संबंधित लेख छपा करते थे । 'पंजाब में हिन्दी' शीर्षक लेख में 'उचितवक्ता' ने जोरदार शब्दों में इस तथ्य की पुष्टि की थी कि हिन्दी ही इस देश की प्रधान भाषा है अतः शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना चाहिए न कि अल्पसंख्यकों की भाषा उर्दू ।

किन्तु इस राष्ट्रीय स्वर के साथ ही 'उचितवक्ता' में राजभक्ति का स्वर भी मिलता है । 25 जून 1881 के सम्पादकीय में 'उचितवक्ता' ने अंग्रेजी शासन के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए लिखा था कि, '' हम भले प्रकार से निश्चय कर कहते हैं

1- डा० कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 458 पर दी गई सम्पादकीय से उद्धृत

2- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 185 पर उद्धृत

कि अंग्रेज सरकार हम लोगों का सर्वप्रकार से सभ्य करने चाहती है और जो जो परम सभ्यता की बातें अन्य विलायतों में है वह सिखाया चाहती है । परन्तु हम न सीखें और अन्धकार के भीतर ही पड़े व्यर्थ बड़बड़ाते रहें तो इस का वे क्या करें ?''[1]

ग्राहकों की उदासीनता व दायित्वहीनता तथा सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के कश्मीर चले जाने पर 'उचितवक्ता' का प्रकाशन सन् 1887 में बंद हो गया । महाराजकुमार रामदीन सिंह के प्रबल आग्रह पर इस पत्र का पुनः प्रकाशन सन् 1894 में हुआ । किन्तु फिर भी वह दीर्घायु न हो सका । 'उचितवक्ता' के बंद होने के कारण का उल्लेख करते हुए पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी लिखते हैं कि , '' इसका कारण मिश्र जी का बहुधन्धीपन ही था । उनका कलकत्ते में बैठना होता नहीं था । कश्मीर के महाराज प्रतापसिंह को अंगरेज रेजिडेंट के षड्यंत्र के कारण गद्दी छोड़नी पड़ी और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र जी को उन्हें गद्दी दिलाने के लिए आन्दोलन और दौड़धूप करनी पड़ी । पत्र-संचालन का काम छोटे भाई लाली प्रसाद पर मुख्य करके रहा । परन्तु 'उचितवक्ता' का नाम दुर्गा प्रसाद जी के लेखों के कारण था और जब यह लोगों को पढ़ने को न मिलने लगे तब वे हतोत्साह हो गए और पत्र बंद कर दिया गया ।[2]

'उचितवक्ता' के प्रकाशन के पश्चात्, सन् 1881 में 'नवीनबालक', 'धर्म सभा', 'आरोग्य दर्पण' तथा 'आनंद कादम्बिनी' आदि पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं' । किन्तु 'आनंद कादम्बिनी' को छोड़कर इनमें से कोई भी साहित्यिक पत्र न था ।

मासिक पत्रिका 'आनंद कादम्बिनी' का प्रकाशन मिरजापुर से पं० बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने किया था । इस पत्र के सम्पादक व प्रकाशन स्वयं 'प्रेमधन' थे । 'आनंद कादम्बिनी' की पृष्ठ संख्या चौबीस थी तथा वार्षिक मूल्य दो रुपये था ।[3]

'आनंद कादम्बिनी' के प्रकाशन की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए पं०बदरी-नारायण चौधरी प्रेमधन ने लिखा था कि, ''यहाँ रसिक समाज के रसिकों की बड़ी उत्कंठा थी कि, इस उत्तम नगर में कोई नागरी भाषा का जौहर दिखाया जाय,और

1- कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ० 210 पर उद्धृत

2- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 178

3- अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 184

उक्त समाज के सभ्यों के वचनामृत की वर्षा कर दूर-दूर के प्रेमियों को सुखी करै.... ।'' तथा ''... जब से कविवचन सुधा का स्वाद 'सुधापुर' जा बसा और 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में चटकीलापन और मनोहरता का गुण मोहनपने के परदे में ढंप गया.... तब उंगलियाँ कलम उठा कहने लगी कि और न सोलह आने तो दो पाई ही सही पर कुछ न कुछ करतूत कर... ।''[1]

'आनंदकादम्बिनी' में अधिकतर कविताएँ छपा करती थीं जो श्रृंगार-विषयक होने के साथ, युग-यथार्थ से सम्बन्धित होती थी । 'जीर्ण-जनपद', 'होली की नकल' तथा 'कलिकाल तर्पण' आदि कविताओं में तत्कालीन देश-दशा की अभिव्यक्ति हुई है । कविताओं के अतिरिक्त 'आनंद कादम्बिनी' में नाटक, प्रहसन, पुस्तक समीक्षा, आलोचना, लेख आदि भी समय-समय पर प्रकाशित हुए । 'हिन्दी प्रदीप' के बाद लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की विस्तृत व कठोर समालोचना 'आनंदकादम्बिनी' में ही छपी थी ।

भारतेन्दु - युग की अन्य पत्रिकाओं की भाषा जहाँ सहज, सरल, व्यंग्यपूर्ण तथा बोलचाल का पुट लिए हुए होती थी, वहीं संपादक 'प्रेमघन' ने 'आनंदकादम्बिनी' के माध्यम से हिन्दी गद्य में 'अनुप्रास युक्त रंगीन'[2] भाषा का समावेश किया था ।

'आनंद -कादम्बिनी' उस युग की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका थी । 'हिन्दी-प्रदीप' ने 'आनंद-कादम्बिनी' की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि, '' हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के छिप जाने पर उसकी छटा यत्किंचित पाई जाती है तो इसी मासिक पत्रिका में ; अलबत्ता

1- सं0 श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय तथा दिनेश नारायण उपाध्याय, प्रेमघन, सर्वस्व, भाग-2, पृ0 457-458

2- ''दिव्यदेवी श्री महाराणी लाख झंझट झेल और विकराल पर्वत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं । ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी भी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है ।''

— रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 321

मासिक पत्रिकाएँ इस ढब की निकला करें तो हिन्दी का भी बड़ा उपकार हो और रसिक पाठकों का मनोरंजन भी बहुत कुछ हुआ करे... अब कि बार कई एक आशय इसके उत्तम और पढ़ने लायक हैं।'' फिर उन्होंने 'आनंदकादम्बिनी' के सम्पादक 'प्रेमघन' जी को कुछ सुझाव देते हुए आगे लिखा था कि, ''सम्पादक को चाहिए कि समाचारावली का स्तम्भ इसमें से निकाल डालें मासिक पत्रों में समाचारावली खासकर ऐसे में जिसके निकलने का कुछ कायम नहीं है समाचारावली निरर्थक और लेख की उत्तमता में एक बड़ा धब्बा है।''[1]

'आनंदकादम्बिनी' के अधिकतर लेख स्वयं 'प्रेमघन' जी के होते थे जिसकी आलोचना करते हुए भारतेन्दु ने लिखा था कि, '' जनाब ! यह किताब नहीं है जो आप अकेले इकराम फरमाया करते हैं बल्कि अखबार है जिसमें अनेक जनलिखित लेख होना आवश्यक है और यह भी नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।''[2] आचार्य शुक्ल के अनुसार, ''सच पूछिए तो 'आनंद कादंबिनी' प्रेमघन ने अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को अंकित करने के लिए निकाली थी।''[3]

भारतेन्दु युग की महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका होते हुए भी 'आनंदकादम्बिनी' अधिक दिनों तक नहीं निकल सकी।

उत्तर भारत में हिन्दी में साहित्यिक पत्रों की कमी को देखते हुए पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 15 मार्च 1883 में, कानपुर से मासिक पत्र 'ब्राह्मण' का प्रकाशन किया। कानपुर में पत्र प्रकाशन की आवश्यकताओं को उन्होंने इस प्रकार रेखांकित किया था, ''हम क्यों आये हैं ? यह न पूछिये। कानपुर इतना बड़ा नगर है। सहस्त्रावधि मनुष्य की बस्ती। । पर नागरी पत्र जो हिन्दी रसिकों का एक मात्र मनबहलाव, देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय, शिक्षक और सभ्यता दर्शक अमूल्य रत्न यहाँ एक भी नहीं। भला यह ...

1- हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1885, पृ० 16

2- अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० 184-185 पर उद्धृत

3- रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 320

हम से कब देखी जाती ?... हम अभी अल्पसामर्थी अल्प-व्यस्क हैं इसलिए महीने में एक ही बार आ सकते हैं । हमारा आना आपके लिए कुछ हानिकारक न होगा वरंच कभी न कभी कोई न कोई लाभ ही पहुँचावेगा.... अंतःकरण से वास्तविक भलाई चाहते हुए सदा अपने यजमानों (ग्राहकों) का कल्याण हमारा मुख्यकर्म है ।''[1]

'ब्राह्मण' का सिद्धान्त वाक्य था, -''शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्या-गुरोरपि ।'' इसका मुख्य उद्देश्य 'हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान' की सेवा करना था ।

'ब्राह्मण' हास्य-व्यंग्य प्रधान पत्रिका थी । पं० प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' की प्रकृति को इस प्रकार स्पष्ट किया था, ''जन्म हमारा फाल्गुन में हुआ है और होली पैदाईश प्रसिद्ध है । कभी कोई हंसी कर बैठे तो क्षमा कीजिएगा । सभ्यता के विरुद्ध न होने पावेगी । वास्तविक वैर हमसे किसी से नहीं है, पर अपने काम लेख से लाचार हैं सच-सच कह देने में हमको कुछ संकोच न होगा । इससे भूल पर अप्रसन्न होना चाहिए ।''[2]

उस युग की सभी प्रगतिशील पत्रों की यह विशेषता थी कि वे सत्य बात कहने से चूकते नहीं थे चाहे इसके लिए उन्हें सरकार तथा समाज का कोपभाजन ही क्यों न बनना पड़े ।

'ब्राह्मण' पत्रिका में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी विषयों से संबंधित निबंध, नाटक, कविताएँ तथा पुस्तक व सामयिक पत्रों की समालोचना एवं हिन्दी - प्रचार- प्रसार से संबंधित लेख प्रकाशित होते थे । हिन्दी का प्रचार -प्रसार कर भारत को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बांधना इसका प्रमुख कर्त्तव्य था । संपादक पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' में प्रकाशित होने वाले विषय सामग्री की सूचना इस प्रकार दी थी, '' कभी राज्य संबंधी, कभी व्यापार संबंधी विषय भी सुनावेंगे, कभी-कभी गद्य-पद्यमय काव्य नाटक से भी रिझावेंगे । इधर-उधर के समाचार तो सदा देवेंगे ।''[3]

1- ब्राह्मण , मार्च 1883 ई०, खण्ड-1, सं० ।

2- ब्राह्मण, खण्ड 1, (प्रस्तावना)

3- ब्राह्मण, खण्ड 1, सं०-1 (प्रस्तावना)

'ब्राह्मण' में कविताओं और निबंधों की प्रमुखता रहती थी । पं० प्रताप नारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम्' तथा 'ब्रेडला-स्वागत' कविता इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । 'तृप्यन्ताम' कविता में तत्कालीन देश-दशा के प्रति क्षोभ एवं असंतोष व्यक्त किया गया है तथा बताया गया है कि इस अकाल, महंगाई, अनाचार, निर्धनता और सबसे बढ़कर अंग्रेजों के शोषण के कारण सिर्फ मृत्यु देवता को ही तृप्त किया जा सकता है । 'ब्रेडला स्वागत' राजभक्ति की पीठिका पर लिखी गई है, किन्तु इसमें तत्कालीन देश दशा का भी सुन्दर चित्रण हुआ है ।

'ब्राह्मण' उस युग का प्रमुख साहित्यिक पत्र था । 'हिन्दी प्रदीप' ने 'ब्राह्मण' की प्रशंसा इन शब्दों में की थी - ''स्वर्गवासी बाबू हरिश्चन्द्र के न रह जाने पर यदि इनकि बकि लेख की छटा का स्वाद चीखा चाही तो इस पत्र के अवश्य ग्राहक बनी.... ।''[1]

ग्राहकों की उत्तरदायित्वहीनता तथा अर्थाभाव के कारण 'ब्राह्मण' पत्र बंद होने जा ही रहा था कि ''इसके गुणों से मोहित होकर बांकीपुर - निवासी बाबू राम दीन सिंह ने इसे अपने यंत्रालय में उठा लिया जहाँ से यह अब तक प्रकाशित होता है । खेद की बात है कि इस ग्रंथ के यंत्रालय में रहते ही हिन्दी के अमूल्य रत्न पंडित प्रताप नारायण जी अकाल प्रसित हुए परन्तु बाबू रामदीन सिंह जी ने इस पत्र के चलाने की प्रतिज्ञा की है । इसके लिए उन्हें अनेक धन्यवाद है ।''[2] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि 'ब्राह्मण' पत्र पं० प्रतापनारायण मिश्र के जीवनोपरान्त भी निकलता रहा ।[3]

उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते हिन्दी में अनेक श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकायें निकलने लगी थी । किन्तु किसी शुद्ध साहित्यिक पत्र का प्रकाशन हिन्दी में अभी तक नहीं हुआ था । मातृभाषा हिन्दी के प्रचार - प्रसार तथा हिन्दी गद्य - पद्य की

1- 'ब्राह्मण । ब्राह्मण । ब्राह्मण,' हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1885, पृ० 22

2- पं० श्यामसुन्दर दास, राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, पृ० 516

3- डा० सुरेश चन्द्र शुक्ल 'चन्द्र', प्रताप नारायण मिश्र जीवन और साहित्य, पृ०365

भाषा को एकरूपता प्रदान करने के उद्देश्य को लेकर चलने वाली काशी की संस्था 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने शोध की गई उपयोगी सामग्री से हिन्दी पाठकों को अवगत[1] कराने के लिए सन् 1896 में, बनारस से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन किया।

आरम्भ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' त्रैमासिक थी और इसके सम्पादक मण्डल में बाबू श्याम सुन्दर दास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, श्री कालीदास और श्री राधाकृष्ण दास थे। सन् 1907 में उक्त पत्रिका मासिक रूप में निकलने लगी। इस समय इसके सम्पादक मण्डल में बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री रामचन्द्र वर्मा तथा श्री वेणी प्रसाद थे। सन् 1920 में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' पुनः त्रैमासिक हो गयी। प्रारम्भ में इसका वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपया था तथा 'हरिप्रकाश यंत्रालय' बनारस से छपती थी।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मूलतः शोध प्रधान पत्रिका थी। उसका उद्देश्य था कि, "यद्यपि वर्तमान समय में बहुतेरे हिन्दी के बड़े-बड़े पत्र प्रकाशित होते हैं परन्तु उनके उद्देश्य ऐसे महान् उदार और सर्व विषय पूरित हैं कि अपनी दीन-हीन मातृभाषा पर विशेष ध्यान देने का अवसर ही कम मिलता है। इसलिए इस पत्रिका का उद्देश्य केवल साहित्य की सेवा ही रखा गया है।"[2]

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में साहित्य, धर्म, दर्शन विज्ञान आदि सभी विषयों को शोध का आधार बनाया गया है किन्तु प्रधानता इसमें हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य को दी गई। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रारंभिक अंकों में छपने वाले विशिष्ट विषय — 'नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति', 'तुलसीदास का जीवन चरित', 'भारतीय भाषाओं की जांच', भारत वर्षीय आर्य देश भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और

1- "सभा का कोई पत्र न रहने से सभा की निर्णीत अथवा विवादित बातें जन-साधारण में प्रचारित होने से रह जाती है और...... बहुतेरे महत्वपूर्ण उपयोगी लेख सभा में आकर पुस्तकालय के अलमारियों ही को अलंकृत कर रहे जाते हैं जिससे इसके सुयोग्य लेखक उत्साहहीन हो जाते हैं और सुरसिक उत्साही पाठक जन प्यासे चातक की भांति बाट जोहते रह जाते हैं।"

— नागरी प्रचारिणी पत्रिका, प्रस्तावना, पहला भाग

2- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पहला भाग, पृ0 2

परस्पर संबंध', 'नागरी दास का जीवन चरित्त' आदि थे। शोध-संबंधी विषयों के साथ ही तत्कालीन युग में चल रहे हिन्दी प्रचार-प्रसार के आन्दोलन को सक्रियता प्रदान करने की दृष्टि से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि से संबंधित अनेक रचनाएँ छपी। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रसिद्ध कविता "नागरी! तेरी यह दशा', शीर्षक कविता इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका सन् 1896 (प्रकाशन वर्ष) से लेकर आज तक प्रकाशित होने वाली एक मात्र त्रैमासिक पत्रिका है।

। जनवरी सन् 1900 में हिन्दी की महत्त्वपूर्ण साहित्य मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन इंडियन प्रेस, प्रयाग से 'नागरी प्रचारिणी सभा' के अनुमोदन[1] से हुआ। 'सरस्वती' की एक प्रति का मूल्य दस आना तथा वार्षिक अग्रिम मूल्य तीन रुपये था।

'सरस्वती' पत्रिका किसी एक व्यक्ति का प्रयास न होकर सामूहिक योजना का फल थी। आरंभ में एक वर्ष तक इस पत्रिका का सम्पादन, एक संपादक मंडली ने किया जिसमें बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, पं० किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' बी०ए०, बाबा राधाकृष्ण दास तथा बाबू श्याम सुन्दर दास थे किन्तु 1901 से 1902 तक इसका सम्पादन अकेले बाबू श्याम सुन्दर ने किया। जनवरी 1903 में 'सरस्वती' के सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी हुए। सन् 1905 के बाद 'सरस्वती' स्वतंत्र रूप से प्रकाशित होने लगी, 'सभा' का 'अनुमोदन' रूप पर से हटा लिया गया।

डा० रामविलास शर्मा ने 'सरस्वती' को 'ज्ञान की पत्रिका'[2] कहा है जो इसके द्वारा विभिन्न विषयों को समेटने की प्रवृत्ति से ही स्पष्ट है, ''इसका नाम सरस्वती है अर्थात् गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, पुरावृत्त, विज्ञान, कलाकौशल आदि साहित्य के मानवीय विषयों का यथोचित समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की उचित समालोचना की जायगी। यद्यपि हम लोग निज मुख से नहीं कह सकते कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की होगी।''[3]

'ज्ञान की पत्रिका' 'सरस्वती' ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि, ''हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की

1- सरस्वती के मुख पृष्ठ पर छपा रहता था, 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सहायता से प्रतिष्ठित'।

2- रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० 360

3- भूमिका, सरस्वती, जनवरी 1900, पृ० 1-2

अंगपुष्टि, वृद्धि और यथापथ पूर्ति हो तथा सुलेखकों की ललित लेखिनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भाव भरित ग्रंथ राशि को प्रसव करे... ।''[1]

भारतेन्दु युग के अधिकांश लेखक व पत्रकार उग्र रूप से साम्राज्यवादी नीति तथा सामन्ती मूल्यों का विरोध कर रहे थे । 'हिन्दी प्रदीप' ने सन् 1886 में ही देशवासियों से एकजुट हो, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन करने की प्रेरणा देते हुए लिखा था कि, '' यदि हमारे देशबांधव चाहते हैं कि इस अन्यायप्रथा से अपना प्राण हटावें तो अब इनको अपने बहुत दिनों के पाले पोसे वैर फूट आलस्य और बेपरवाही को छोड़कर एक हो आन्दोलन करना चाहिए ।''[2] निःसंदेह 'इस अन्याय प्रथा' अर्थात् ब्रिटिश शासन से मुक्त हुए बिना भारत की उन्नति असंभव थी ।

किन्तु इसके विपरीत सन् 1903 में 'सरस्वती' 'ब्रिटिश सिंह' की छत्रछाया में ही भारत वर्ष की उन्नति की बात कर रही थी, ''भविष्यत में भारत वर्ष ईश्वर की कृपा से ऐसा न होगा, जहाँ की सम्पत्ति घट रही हो... जहाँ सच्चा असंतोष फैला हो । परन्तु ऐसा होगा जहाँ उद्योग बढ़ेगा... लोगों की विद्या की उन्नति होगी, जहाँ की धन-सम्पदा बढ़ेगी... सम्राट की निर्विवादित प्रभुता को छोड़कर और किसी अवस्था में इस भविष्यत पर विश्वास नहीं हो सकता और ब्रिटिश सिंहासन को छोड़कर न किसी दूसरे के अधिकार में यह अवस्था बनी रह सकती है ।''[3]

1905 ई० तक 'सरस्वती' में इसी भावबोध की प्रधानता रही । उसमें अधिकतर तत्कालीन ब्रिटिश शासकों, प्राच्यविद्याविदों तथा सामन्ती प्रभुओं के चित्र छपते रहे । किन्तु 'सरस्वती' के दृष्टिकोण में क्रमशः परिवर्तन आता चला गया । सन् 1905 में हुए बंग-भंग की घटना से फैले आक्रोश के कारण जन समूह में जिस राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ, उसका स्वागत करते हुए सरस्वती ने लिखा था कि, '' लार्ड कर्ज़न के इस काम (बंग-भंग) ने देश में विशेष कर बंगाल में स्वदेशी चीजों ही के काम में लाने का जोश पैदा कर दिया है । यदि यह जोश आ जाय तो बहुत अच्छा है ।''[4]

1- भूमिका, सरस्वती, जनवरी 1900, पृ० 1-2
2- हिन्दी प्रदीप, जून 1886, पृ० 7
3- सरस्वती, फरवरी-मार्च 1903, पृ० 81
4- सरस्वती, अक्तूबर 1905

किन्तु इसके बावजूद 'सरस्वती' ने 'हिन्दी प्रदीप' की भाँति उग्र नीति नहीं अपनाई । 'सरस्वती' का तीसरा नियम ही यह था कि , ''इस पत्रिका में ऐसे राजनीतिक व धर्म संबंधी लेख न छापे जायेंगे जिनका संबंध सम्सामयिक घटनाओं से हो... ।''

यह सर्वविदित है कि भारत में साम्राज्यवाद यहाँ के सामन्तवाद को प्रश्रय देते हुए अपने हितों के अनुकूल पूँजीवाद का विकास कर रहा था । जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि सरस्वती साम्राज्यवादी नीतियों का समर्थन करती थी किन्तु विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में इसने सामन्ती मूल्यों के बहिष्कार में योग दिया तथा साहित्य को ज्ञान विज्ञान के विस्तृत धरातल से जोड़ा ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गद्य के लिए खड़ी बोली का व्यवहार सर्वमान्य हो गया था किन्तु पद्य की भाषा को लेकर विवाद चल रहा था । 'सरस्वती' ने जहाँ भाषा को सुस्थिर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वहीं गद्य व पद्य की भाषा में एकरूपता पर बल दिया, '' पर यह बात हिन्दी भाषा के लिए निन्दा की है और उसके बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार की भाषा में जो उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हो सम्पन्न हुई, लिखा जाय और पद्य पुरानी भाषा में ।''[1]

इसी प्रकार सरस्वती ने अपने युग में भी चली आ रही रीतिवादी धारणाओं– यथा शृंगार व नायिका भेद की परम्परा, समस्यापूर्ति, अलंकार प्रियता आदि का बहिष्कार किया तथा ऐतिहासिक व वैज्ञानिक ग्रन्थों की आवश्यकता पर बल दिया, '' इस समय हमें आवश्यकता है ऐतिहासिक व वैज्ञानिक ग्रंथों की । टाड का इतिहास अनुवादित पड़ा रहे, पृथ्वीराज रासो के छपने के दिन न आवें, भारत वर्ष का अच्छा इतिहास लिखा जाय ही नहीं परन्तु अलभ्य ग्रंथ अप्रकाशित पड़े रहें और राजा साहब अपनी उदारता अलंकार ग्रंथों के प्रकाशित कराने में दिखावें – यह जानकर हमारे हृदय को व्यथा होती है ।''[2]

भारतेन्दु युग में आलोचना के जिन रूपों का बीज वपन हो गया था, उसका पूर्णविकास 'सरस्वती' के माध्यम से हुआ ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सरस्वती' बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका थी ।

1- सरस्वती, जनवरी 1901

2- सरस्वती, मई 1902, पृ0 146

वैसे तो सरस्वती आज तक निकलती चली आ रही है किन्तु इस युग की प्रतिनिधि पत्र नहीं है । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के हट जाने के बाद यह उन मूल्यों को आगे बढ़ाने में असमर्थ होती चली गई, जिनके लिए द्विवेदी जी प्रतिबद्ध थे ।

इस तरह आरम्भिक - युग की साहित्यिक पत्रकारिता के आरम्भ से लेकर अंत तक प्रकाशित होने वाली कुछ प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की स्थिति इस प्रकार की थी । 'हिन्दी प्रदीप' इन पत्रिकाओं के बीच प्रकाशित हुआ था किन्तु अपने कार्यों तथा आदर्शों के कारण उस युग की तमाम साहित्यिक पत्रिकाओं के बीच कुछ विशिष्टता लिए हुए था ।

राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से देश की दशा अत्यंत शोचनीय थी । सारा देश सूखा, अकाल, भुखमरी की चपेट से कराह रहा था । इस प्रतिकूल समय में भी देश का अनाज बाहर ढोया जा रहा था । अंग्रेज सरकार एक ओर तो 'दिल्ली दरबार' की तैयारी में व्यस्त थी, दूसरी तरफ शिक्षा तथा पत्रों के माध्यम से आ रही जागरूकता को अवरुद्ध करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर शिक्षा-संबंधी कार्यों में अनेक प्रकार की कटौतियाँ कर रही थी । 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' जैसा काला कानून अख्तियार करके पत्रों की उन्नति व विकास में बाधक सिद्ध हो रही थी । किन्तु अंग्रेज सरकार के ये काले कानून हिन्दी पत्रकारिता के स्वाभाविक विकास को रोकने में असफल सिद्ध हुए और अनेक पत्र निकलते चले गए ।

साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी में इस समय दो ही उत्कृष्ट पत्र निकल रहे थे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'कविवचनसुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका'। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन काल में ही उक्त दोनों पत्र दूसरे सम्पादकों के हाथ में पहुँचकर अपने स्तर से गिर गए थे ।[1]

1- ''पश्चिमोत्तर प्रान्तों में जो समाचार पत्र हिन्दी में पढ़ने देखने और कहने योग्य हैं और थे वे यही दो अर्थात् काशी पत्रिका और श्रीयुत् बाबू हरिश्चन्द्र के थे...एक उनमें से उक्त बाबू साहब के कम ध्यान देने और उठा लेने से यद्यपि बहुत प्रशंसनीय दशा में नहीं... दूसरे का कुछ हाल मत पूछिए जिस दो रंगी शक्ल व भाषा में अब वह निकलता है वास्तव में वह समाचार पत्र की गणना में किसी तरह नहीं हो सकता उसे तो गवर्नमेंट का एक विशेष पुरुष के द्वारा निज कार्य साधन का अस्त्र कहना चाहिए ।''

— हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1877, पृ० 15

ऐसे समय में 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन । सितम्बर 1877 में हुआ था, ''हिन्दी का साधारण साहित्यिक पत्र नहीं था । हिन्दी में वह क्रान्तिकारी राजनीतिक पत्रकारिता का अग्रदूत था ।''[1]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस पत्र के सम्पादक पं0 बालकृष्ण भट्ट थे । 'हिन्दी प्रदीप' के प्रकाशन में प्रयाग की 'हिन्दी वर्द्धिनी सभा' का महत्त्वपूर्ण योगदान था । पं0 बालकृष्ण भट्ट ने 'निजवृतांत' शीर्षक से 'हिन्दी प्रदीप' के प्रकाशन की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि, '' पुराना चर्खा ओटने की भांति निज-वृतांत का सुनाना आपका बहुमूल्य समय नष्ट करने की भांति है... ईश्वर के अनुग्रह से अब इस समय हिन्दी साहित्य सेवी बहुत से हो गए हैं और दिनों दिन उनकी संख्यायें बढ़ती जा रही हैं... किन्तु एक समय वह भी था जब कुटिल आकृति धारण करने वाली वामावर्तिनी कराला उर्दू के सिवाय देश में हिन्दी का नाम भी न था ।दाहिनी ओर से हिन्दी लिखते देख लोगों को अचरज होता था... वर्तमान हिन्दी साहित्य के जन्मदाता प्रातः स्मरणीय बाबू हरिश्चन्द्र तथा दो एक उन्हीं के समकक्षों को छोड़कर सुलेखकों का सर्वथा अभाव था... बाबू साहब के इतने परिश्रम पर भी हिन्दी बालिका की मुग्ध दशा बनी रही... भाषा के ऐसे बाल्यकाल में हिन्दी के हितु और प्रेमी कतिपय छात्रों की एक मंडली हमारी जन्मदाता हुई । एक-एक छात्र ने पाँच-पाँच रुपये चंदा इकट्ठे कर प्रतिमास दस पृष्ठ का मासिक पत्र निकालना प्रारंभ किया... ।''[2]

'पंसारियों के पुड़िया बाँधने के काम न आ सके' इस भय से 'हिन्दी प्रदीप' को पुस्तकाकार छापा गया । इसकी जिल्द हरी, गुलाबी, नीली, पीली इन चार रंगों की होती थी । 'हिन्दी प्रदीप' की एक प्रति का मूल्य चार आना तथा अग्रिम वार्षिक मूल्य दो रुपया था ।[3] पत्र के शुल्क में समयानुसार परिवर्तन होता चला गया । संवत् 1966 अर्थात् सन् 1909 में 'हिन्दी प्रदीप' का मूल्य दो रुपया बारह आना, राजा

1- रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ0 287

2- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1905, पृ0 3-5

3- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1877, पृ0 16

महाराजा , तुल्लुकेदारों के लिए पाँच रुपये, अंग्रेजी सरकार, सरकारी अफसरों तथा दफ्तरों से पच्चीस रुपये लेना तय किया गया । किन्तु इसकी एक प्रति के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया ।[1]

'हिन्दी प्रदीप' का मूल्य आरम्भिक युग की अन्य पत्रिकाओं की तुलना में कुछ अधिक था । किन्तु इसका कारण स्पष्ट है । इस पत्र को सरकारी सहायता नहीं मिलती थी । सरकारी सहायता न मिलने के कारण को'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक ने इन शब्दों में स्पष्ट किया था, '' हमारे पत्र को सरकार से द्रव्य सम्बन्धी सहायता की बहुत ही कम आशा है क्योंकि पत्र का रंग-ढंग और भाषा आदि उस ढब की नहीं है जो सरकार को पसंद आवे इसलिए केवल निज परिश्रम और स्वदेशी बान्धवों के अनुग्रह के भरोसे हम लोगों ने इसे मुद्रित करना आरम्भ किया है यदि हमारे देश के लोगों की पूरी सहायता हमें मिलेगी तो यह पत्र जनवरी से पाक्षिक तथा साप्ताहिक कर दिया जाएगा ।''[2] किन्तु अर्थाभाव के कारण 'हिन्दी प्रदीप' अंत तक साप्ताहिक तो दूर पाक्षिक तक न हो सका ।

पं० बालकृष्ण भट्ट की यह हार्दिक इच्छा थी कि यदि ग्राहक संख्या पाँच सौ हो जाए तो पत्र का मूल्य घटा दिया जाय ताकि अधिक से अधिक लोग इससे लाभान्वित हो सकें । इस आशय की एक विज्ञप्ति उन्होंने जनवरी 1899 के 'हिन्दी प्रदीप' में छापी, ''बहुधा लोग कहा करते है कि लेख तो बुरा नहीं रहता पर समय से नहीं निकलता यह बड़ा दोष है = १॥=) वार्षिक मूल्य पर 24 पृष्ठ का मासिक पत्र अब इससे सस्ता क्या होगा 500 ग्राहक हो जायं तो मय डाक महसूल के 1) वार्षिक मूल्य भी हम कर सकते हैं सो करे को होना है ।''[3] किन्तु दुर्भाग्यवश 'हिन्दी प्रदीप' की ग्राहक संख्या दो सौ से अधिक कभी नहीं हुई ।[4]

आरम्भ के कुछ वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' 16 पृष्ठों में निकला । किन्तु स्थानाभाव के कारण बहुत से उपयोगी एवं आवश्यक विषय छपने से रह जाते थे अतः । सितम्बर 1879 से 'हिन्दी प्रदीप' की पृष्ठ संख्या बढ़ाकर 24 कर दिया गया । पृष्ठ बढ़ जाने के कारण वार्षिक शुल्क तीन रुपया कर आने कर देना

1- हिन्दी प्रदीप, माघबदी, अमावस्या, संवत् 1966, पृ० 40
2- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1877, पृ० 15-16
3- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1899, जि० 22, सं०1,पृ० 3
4- सं० देवीदत्त शुक्ल, धनन्जय भट्ट, भट्ट निबंधावली, पृ० 12

पड़ा ।[1]

आरम्भिक युग की अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं की तुलना में 'हिन्दी प्रदीप' कुछ विशिष्टता लिए हुए हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरा, जो उसके मुख-पृष्ठ पर छपी हुई पंक्तियों से स्पष्ट है । 'हिन्दी प्रदीप' का सिद्धान्त वाक्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का बनाया हुआ था -

''शुभ सरस देश स्नेहपूरित प्रगट हवै आनंद भरै ।
बचि दुसह दुर्जन वायु सो मणिदीप सम थिर नहिं टरै ।।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामैं जरै ।
हिन्दी प्रदीप प्रकासि मूरखतादि भारत तम हरै ।।''[2]

'हिन्दी प्रदीप' के सिद्धान्त वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पत्र वृहत्तर उद्देश्य के लिए समर्पित थी ।' देश प्रेम के विचारों से युक्त 'हिन्दी प्रदीप' का उद्देश्य मध्यकालीन सामन्ती मूल्यों को दूर कर ज्ञान को नया आयाम देना था । अपने पाठकों को उच्चविचार, विवेक और आनंद की उपलब्धि कराना उसकी प्रतिबद्धता थी । इसमें विचारों की प्रतिष्ठा की जो बात कही गयी है, वह, ध्यान देने योग्य है ।जीवन व साहित्य में विवेक व विचार की महत्ता की प्रतिष्ठा निस्संदेह आधुनिक दृष्टि का स्वीकार है । उक्त वृहत्तर उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त यह आवश्यक था कि नितांत प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलते हुए भी 'हिन्दी प्रदीप' मणिदीप के समान थिर रहे ।

'हिन्दी प्रदीप' के मुखपृष्ठ की फोटोस्टेट कापी अगले पृष्ठ पर दी जा रही है ।

1- ''मेरा शरीर इतना छोटा है कि बहुत से अच्छे-अच्छे विषय हर महीने छूट जाया करते हैं इस कारण हम अपने का यथोचित सम्मान नहीं कर सकते जब उनका यथोचित सम्मान न हुआ तो वे काहे को हम पर कृपा करेंगे और उनकी कृपा ही हमारे लिए सर्वस्व है तस्मात् ब्रह्मन्जलि हो मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ... कि आठ पृष्ठ बढ़ जाने में जो एक रुपया मेरे मालिकों को अधिक बढ़ाना पड़ेगा उसे आप कृपा पूर्वक स्वीकार कीजिए ।''
— 'हिन्दी प्रदीप', सितम्बर 1879, पृ० 1-2

2- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1877 मुखपृष्ठ

THE HINDIPRA[illegible]

हिन्दीप्रदीप।

——xxxx——

मासिकपत्र

[illegible]द्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, प[illegible]हास, [illegible], [illegible],
[illegible] इत्यादि [illegible] विषय में

हर म[illegible] को १ [illegible]

शुभ [illegible] मंगलपूरित प्रगट [illegible] आनंद भर[illegible]
[illegible] गिर नहिं टरै।
[illegible] विचार उन्नति कुमति सब या सें जरै।
[illegible] भारत तम [illegible]

[illegible]—1st [illegible] 18[illegible] [Vol. III. No. 9.]

{ प्रयाग [illegible] सं० [illegible] [जि० ३ संख्या ९]

युक्लिड का ज्यामिती तत्व अर्थात् रेखागणित, [illegible] अध्याय पहिला खण्ड।

पटना नार्मल स्कूल में गणित के अध्यापक बाबू सञ्जीवन लाल बी. ए. प्रणीत।

हम इसे अत्यन्त धन्यवाद पूर्वक स्वीकार करते हैं पुस्तक प्रणेता महाशय ने बड़े परिश्रम से [illegible] ज्यामिटरी है और अङ्गरेजी [illegible] [illegible] हैं सबों [illegible] तत्व [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है [illegible]

'उपर्युक्त संकल्प के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' के मुख्यतः चार उद्देश्य थे जो इसमें छपने वाले अग्रलेखों (सम्पादकीय) तथा निबंधों के माध्यम से निरन्तर अभिव्यक्त एवं पुष्ट होते रहे –

(क) राजनीतिक चेतना जगाकर जनता में राष्ट्रीयता का भाव भरना तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए आन्दोलन करने की प्रेरणा देना ।

(ख) सामाजिक, धार्मिक, नैतिक आशय से युक्त रचनाएँ प्रकाशित कर समाज के नवनिर्माण के लिए प्रेरित करना ।

(ग) हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योग देना ।

(घ) उच्चकोटि के निबंध, नाटक, उपन्यास, समालोचना, कविताएँ प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध करना ।'

'हिन्दी प्रदीप', 'खबर का कागज' नहीं था अपितु तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक समस्याओं से जूझने वाला युग का प्रतिनिधि पत्र था । उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अधिकांश पत्र जब किसी न किसी रूप में राजभक्ति प्रकट कर रहे थे, 'हिन्दी प्रदीप' निर्भीक स्वर में अंग्रेज सरकार के जन-विरोधी कार्यों तथा शोषण नीति का पर्दाफाश कर रहा था । 'हिन्दी प्रदीप' का केन्द्रीय भाव था – भारत की उन्नति कैसे होगी ? पत्र-प्रकाशन के पहले ही वर्ष 'भारत का भावी परिणाम क्या होगा' शीर्षक अग्रलेख में 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था, ''यह कौन कह सकता है कि हतभाग्य भारत-वासियों के भाग्य में दुख भोगना कब तक बदा है सहस्त्रवर्ष बीते जब से पृथ्वीराज का दिल्ली के समरांगण में पराजय और मरण हुआ तब से भारत का सूर्य अस्त हो गया है मुहम्मद गोरी से लार्ड कूलाइव तक कितने लोग कितनी बार आ आ कर अपना डंका बजा बजा मनमाना इन्हें लूटते मारते रहे... रौंदते रहे तो भी भारत निवासी जीते बचे यही आश्चर्य है... और आज इण्डिया इंग्लैंड को सर्वस्व सौंपे हुए है और दीन हीन होकर उसकी शरण में पड़ी है... किन्तु वे इस देश को अपना घर समझते ही नहीं इससे वे केवल रुपया कमाने की नीयत से आते हैं और ज्यों ही खातिर ख्वाह रुपया कमा चुके उड़छू हुए... उन्हें हिन्दुस्तान से वह प्यार नहीं हो सकता जैसे इंग्लैंड के साथ है

इसी से हम सोचते हैं भारत का भावी परिणाम क्या होगा ।''[1]

अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार अपने हित के लिए किया था, भारत की उन्नति के लिए उपाय करना उनका लक्ष्य नहीं था क्यों कि, ''यदि उचित प्रवृत्ति के अनुसार वश में रखना उनका उद्देश्य होता तो क्लाइव वारेनहेस्टिंग और डलहौजी के अनुचित अन्याय से पकता के उस अन्यायोपार्जित धन और देश को उसके यथार्थ स्वामियों को पुनः प्रत्यर्पण करते और ऐसा काम जानबूझ के फिर न करते ।''[2]

अतः देश की उन्नति के लिए आवश्यक था कि देश में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो, राजनीतिक चेतना पैदा तथा जनता का राजनीतिक उद्देश्य एक हो जाए । 'हिन्दी प्रदीप' ने देशोन्नति के लिए राजनीतिक एकता की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए लिखा था कि, '' जब तक कोई जाति एक राजनीतिक समूह न होगी जो एक ही राजनीतिक ध्यान से प्रोत्साहित नहीं है तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और बुद्धि की बुनियाद किस चीज पर कायम रखेंगे ।''[3]

'एक ही राजनीतिक' उद्देश्य यानी कि देश की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक था कि जनता आपस के भेदभाव, धार्मिक मत-मतान्तरों का आग्रह छोड़ एक जुट हो, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करे । 'हिन्दी प्रदीप' ने जनता को आन्दोलन करने के लिए उत्तेजित करते हुए लिखा, '' यदि हमारे देश बांधव चाहते हैं कि इस अन्याय प्रथा से अपना प्राण छटायें तो अब उनको अपने बहुत दिनों के पाले पोसे वैर भाव... फूट आलस्य और ईर्षावादी को छोड़कर एक हो आन्दोलन करना चाहिए ।''[4]

1- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1878, पृ0 4-6

2- ''भारत में अंग्रेजी राज की जैसी दशा देखने में आती है उससे क्या अनुमान होता है, '' सम्पादकीय शीर्षक, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1887, पृ0 ।

3- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1887, पृ0 6

4- हिन्दी प्रदीप, जुन 1886, पृ0 6

'बाल गंगाधर तिलक से भी पहले 'हिन्दी प्रदीप' ने जनता की शक्ति में विश्वास व्यक्त करते हुए उन्हें आन्दोलन करने की प्रेरणा दी थी ।'

'"हिन्दी प्रदीप' की फाइलों को देखने से यह साफ हो जाता है कि अंत तक 'हिन्दी प्रदीप' की राजनीतिक जागरूकता में कोई परिवर्तन नहीं आया था । 'स्वराज्य क्या है' शीर्षक अग्रलेख में 'हिन्दी प्रदीप ने स्वराज्य को इस प्रकार परिभाषित किया था कि, "गुलामी से छुटकारा पाय स्वच्छन्द हो जाना ही स्वराज्य है ।"[1] उसका दृढ़ विश्वास था कि यदि जनता इसी तरह राजनीतिक दृष्टि से जागरूक रही, विघ्न बाधाओं की परवाह न करते हुए लक्ष्य-प्राप्ति (स्वतंत्रता-प्राप्ति) के लिए प्रयत्नशील रही तो, "एक शताब्दी नहीं पचास वर्ष भी नहीं बीस वर्ष की अवधि ही"[2] काफी है । 'हिन्दी प्रदीप' ने स्वराज्य-प्राप्ति के उपायों की ओर स्पष्ट रूप से संकेत करते हुए लिखा था कि, "स्वराज्य के लिए जातीय शिक्षा, स्वदेशी और बायकाट की जरूरत है ।"[3] '

इससे 'हिन्दी प्रदीप' की युगचेतना के प्रति जागरूकता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । निस्संदेह 'हिन्दी प्रदीप' ने स्वतंत्रता आन्दोलन को आगे बढ़ाने में अहम् भूमिका निभायी थी ।

भारत की पराधीनता, सामाजिक पिछड़ेपन, अशिक्षा का मूल कारण यही था कि भारतीय समाज सामन्ती-समाज-व्यवस्था में जकड़ा हुआ था । जातिभेद, वर्णभेद नाना प्रकार के मत-मतान्तरों, धार्मिक कट्टरता ने समाज को रुग्ण और जर्जर बना दिया था। सामन्ती मूल्यों में बद्ध समाज आधुनिक युग के अनुरूप अपना विकास करने में सर्वथा असमर्थ था । अतः सामाजिक, धार्मिक नैतिक आशय से युक्त रचनाएं प्रकाशित कर समाज के नवनिर्माण में योग देना 'हिन्दी प्रदीप' का मुख्य उद्देश्य था ।[4]

1- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1908, पृ0 30
2- हिन्दी प्रदीप, वही 1908, पृ0 31
3- हिन्दी प्रदीप, वही 1908, पृ0 31
4- "श्री हरिपद रज कृपा देश दुर्दशा सुधारन
हिन्दू गन मन गुप्त महातम तोम निवारन
दीप देश नव नेह मेह भरि भरि तहँ बारन।"
—पं0 श्रीधर पाठक, हिन्दी प्रदीप का उद्देश्य, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885

राजनैतिक विचारों के समान ही समाज तथा धर्म के प्रति 'हिन्दी प्रदीप' का दृष्टिकोण प्रगतिशील था । 'हिन्दी प्रदीप' समाज में फैले अंधविश्वासों, बालविवाह, बहुविवाह जैसी कुरीतियों, धार्मिक आडम्बरों, रूढ़िग्रस्त हिन्दू धर्म, वर्णभेद, सम्प्रदाय भेद तथा जातिभेद का कट्टर विरोधी था । उसका यह दृढ़ मत था कि जब तक समाज में शिक्षा व सत्यविद्या का प्रचार न होगा तथा जातिभेद, वर्णभेद, सम्प्रदाय भेद में बँटा समाज एक न होगा, भारत की उन्नति असंभव है । जातपात शीर्षक निबंध में समाज में प्रचलित 'जातिप्रथा' की तीखी आलोचना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था कि, ''जैसा बेहूदा तरीका बिरादरी का इस समय प्रचलित है उससे कभी आशा नहीं की जा सकती कि जाति-पाँति के सत्यानाश हुए बिना उन्नति की हजार हजार चेष्टा करने पर भी हमारी या हमारे देश की कभी तरक्की होगी ।''[1] जातिभेद, वर्णभेद, सम्प्रदायभेद राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़े अवरोधक तत्व थे, ''जाति भेद, वर्ण भेद, सम्प्रदाय भेद ने समाज को मलरोगी और जीर्ण कर डाला किन्तु पराधीनता पिशाची के चंगुल में पड़े हुए उन अनर्थों को हटाने का उद्यम कभी न किया वरन् शाखा-प्रशाखा के रूप में अनेक कुसंस्कार जिनकी नींव इन्हीं जातिभेद , वर्णभेद, सम्प्रदाय भेद के कारण पड़ी है नित्य नये होते गये उसी के प्रचलित रहने से बड़े बड़े क्लेश उठा रहे हैं तो भी प्रमादजनक बालविवाह अथवा बहुविवाह रूप कुसंस्कार से मुँह नहीं मोड़ा चाहते ।''[2]

'बालविवाह, बहुविवाह जैसी कुप्रथा के मूल में था – स्त्रियों में शिक्षा का अभाव । 'हिन्दी प्रदीप' का स्पष्ट मत था कि स्त्रियों की दशा में सुधार 'कौमीयत' की पहली सीढ़ी है और 'कौमीयत' के अभाव में भारत की उन्नति नहीं हो सकती । अतः स्त्रियों में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए 'धर्म का महत्व' शीर्षक अग्रलेख में 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था कि, '' इनको अब तालीम की जरूरत है तो उस तरह की तालीम होनी चाहिये जिसमें उनके नेत्र खुलें – भूगोल इतिहास भांत-भांत के विज्ञान इन्हें सिखाय जाय जिसके पढ़ने से इनकी विवेकशक्ति बढ़े हिन्दूधर्म की सब पोल खुल जाय और ठीक 2 उनके मन में बैठ जाय कि जो हम कर रही हैं और आज तक

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1889, पृ0 17
2- हिन्दी प्रदीप, जुलाई-अगस्त 1889, पृ0 32

करती जाएँ वह धर्म का आभास मात्र निराधर्म है ।'' स्त्रियों में यह भावना तभी आ पाएगी ''जब इनमें विवेक आवे जो केवल उत्तम शिक्षा के द्वारा हो सकता है ।''[1]

धर्म के प्रति 'हिन्दी प्रदीप' का दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से मुक्त था । 'हिन्दी प्रदीप' धर्म की महत्ता को स्वीकार करता था क्योंकि उसका विचार था कि राष्ट्र की एकता के लिए धर्म आवश्यक है । किन्तु वह हिन्दू धर्म में प्रचलित धार्मिक मत-मतान्तरों का प्रबल विरोधी था । 'हम ही सबसे बुरे हैं' शीर्षक आलेख में हिन्दूधर्म में प्रचलित धार्मिक मत-मतान्तरों की तीखी आलोचना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था कि, ''धिक ! मजहबी सरगर्मी इसी का नाम है कि शैव वैष्णव को देख खाक हो और वैष्णव शैव को देख जले.... शैव के सैकड़ों भेद वैष्णवों के हजारों जिनकी परस्पर ईर्ष्या की ऐसी गाँठ पड़ी है कि एक दूसरे का मुख देख नहीं मानते.... ।''[2] 'हिन्दी प्रदीप' की दृष्टि में सच्चा धर्म वह धर्म था जिससे भारत की उन्नति हो, '' हमारे लिए तो वही धर्म है वही श्रेष्ठ कर्म है वही परम स्वर्ग है... जिसके आचरण से हमारी दशा से उठने के लिए अणुमात्र भी आश्वासन मिले । वह आचरण आपकी पोथियों में आपके शब्दों में आपके धर्माभास अधर्म में कहीं हुई नहीं है.... उच्च शिक्षा में मध्यान्ह के सूर्य के प्रकाश के समान चमक रहा है... धर्म धर्म पुकार कान की चैलियाँ मत फाड़िये हमें आप पतित कहिये नास्तिक कहिये धर्मच्युत मान लीजिए कहेंगे स्पष्ट... ।''[3]

उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी प्रचार आन्दोलन जातीय उन्नति का एक आवश्यक अंग था । भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों, पत्रकारों, समाज सुधारकों की यह धारणा थी कि देशोन्नति के लिए देश में एक सामान्य भाषा की उन्नति आवश्यक है और उस पद पर हिन्दी ही प्रतिष्ठित हो सकती थी, क्योंकि वह भारतवर्ष की प्रधान भाषा थी जो 'गरीब की झोपड़ी से लेकर राजा के महल तक' बोली व समझी जाती थी । 'हिन्दी प्रदीप'

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल से जून 1894, पृ0 6-10

2- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1880, पृ0 2

3- 'आचरण' शीर्षक निबंध, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1889

का एक अन्य उद्देश्य हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना था ।[1] अतः 'हिन्दी प्रदीप' ने इसी व्यापक भाषा का पक्ष-समर्थन करते हुए लिखा था कि, '' इस देश में दो भाषा प्रचलित है — एक का नाम हिन्दी है जिसे कुंजड़े से लेकर राजा तक बोलते हैं और यही देश भाषा है दूसरी उर्दू है यह प्रायः उन लोगों की बोली है जो राजा से कुछ संबंध रखते हैं और इसकी बड़ाई यही है कि जहाँ तक हो सके फारसी अरबी शब्द अधिक हो इसी कारण यह सर्वसाधारण के समझ नहीं आती इन दोनों देशी विदेशी भाषाओं से एक कहना वैसा ही है जैसा अंग्रेजी व हिन्दी को ।''[2]

'हिन्दी प्रदीप' ने स्पष्ट रूप से यह देख लिया था कि 'कुंजड़े से लेकर राजा तक बोली जाने वाली' हिन्दी ही भविष्य में जातीय भाषा का पद ग्रहण करेगी, ''यद्यपि जातीय भाषा हम लोगों की कोई नहीं परन्तु जातीय अक्षर हैं.... और जो कोई हमारी जातीय भाषा कभी होवेगी इसके अक्षर भी वे ही अक्षर होने चाहिए जिनमें कि इस समय जातीयता है । वे अक्षर देवनागरी है और भारत की भाषाओं में एक भाषा ही ऐसी है जो उक्त अक्षरों में लिखी जाती है और वह भाषा ईश्वर की कृपा से हिन्दी है फिर भी यह है कि यह हिन्दी थोड़ी बहुत भारत वर्ष के सब भागों में समझी जाती है और अधिक भागों में बोली भी जाती है इससे हमारी समझ में तो यही आता है कि यदि भारत वर्ष की कभी कोई जातीय भाषा होगी तो यही हमारी प्यारी सर्वगुण-आगरी नागरी ही होगी और यथार्थ में इसी को ऐसा बनने का अधिकार भी है ।''[3]

1- ''प्रचलित उर्दू मुख कवलित हिन्दी उद्धारण ।
दीन प्रजा दुख हरन नागरी प्रचारन ।''
— श्रीधर पाठक, 'हिन्दी प्रदीप का उद्देश्य', हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885

2- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1882, पृ0 10

3- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1886, पृ0 21

हिन्दी को भारत की जातीय भाषा का गौरव प्राप्त हो, इसके लिए आवश्यक था कि सर्वसाधारण को हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाए तथा उसे राजकीय संरक्षण प्राप्त हो। उक्त आशय से संबंधित एक निवेदन-पत्र सरकार के पास भेजते हुए सितम्बर 1882 में 'हिन्दी प्रदीप' ने लिखा था कि, ''जिस भाषा का राजा के घर सम्मान रहता है उसी की ओर लोग अधिक झुकते हैं और उसी की वृद्धि होती जाती है अब यहाँ उर्दू का सम्मान और हिन्दी का अनादर होने से हिन्दी मुरझा सी गई है और दिन-प्रतिदिन उसकी दशा हीन होती जाती है इसलिए जब तक राजकाज में हिन्दी पूछी न जायगी तब तक इसकी वृद्धि असंभव है.... दूसरे सर्वसाधारण की शिक्षा का प्रचार बिना हिन्दी के और तरह नहीं हो सकता.... ।''[1] और जब तक देश भर में शिक्षा का प्रचार नहीं हो जाता तब तक देश की उन्नति होना असंभव था, ''हम लोग सीधे सरल मन से हिन्दी इसलिए चाहते हैं कि सर्वसाधारण लोग भी शिक्षित हो जावें और देश की दशा सुधरे ।''[2]

किन्तु 'हिन्दी प्रदीप' आम जनता में बोली जाने वाली उर्दू का विरोधी नहीं था। वास्तव में उसका विरोध उर्दू के अरबी फारसीमय रूप से था, जिसका समर्थन राजा शिवप्रसाद सिंह करते थे तथा जिसे अंग्रेजी शासन अपने हित के लिए प्रश्रय दे रही थी। 'हिन्दी प्रदीप' भाषा के उस सहज सरल रूप का हिमायती था जिसमें विदेशी शब्द आकर हिन्दी शब्द की व्यापकता प्रदान करते हैं। 'हिन्दी प्रदीप' ने भाषा के संबंध में कट्टरता

1- भारतेन्दु -युग के पाठक भी इस तथ्य से परिचित थे कि जब तक उर्दू को राजकीय संरक्षण मिलता रहेगा हिन्दी की उन्नति असंभव है, ''जब तक उर्दू सरकारी की वकालत की भारत राज्य के यहां रहेगी तब तक देश उन्नति का होना संभव नहीं हां यदि आप लोग अपने मातृभाषा की दृढ़ता से सहायता कर कौंसिलपति के इजलास में उर्दू पर (जो अब भारत की मद घुला बीबी बनी है) अपील कर देवें तो अवश्य है कि हिन्दी महारानी की डिग्री हो जाय तभी देश उन्नति होना संभव है।''

—प्रेरित पत्र, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1885

2- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, 1882, पृ0 10

की नीति अपनाने वालों की तीखी आलोचना की थी, ''तुलसी सोना मुंह में लेकर यह प्रण कर लेना कि गुद्धातिगुद्ध संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त उर्दू शब्द आने ही न पावें जैसा हमारे नवीन सम्पादक हिन्दुस्तान तथा दो एक और सम्पादक करते हैं दफा की जगह अध्याय कचहरी को न्यायालय इत्यादि ऐसा करना तो मानो हिन्दी का गला घोंटना है और संस्कृत शब्दों की साकड़ से उसे जकड़ रखना है । भाषा के विस्तृत करने का यह उत्तम प्रकार कभी न कहा जायगा -- नवीन क्रम की हिन्दी के जन्मदाता सुप्रसिद्ध नाम बाबू हरिश्चन्द्र के लेखों नमूने में रखकर चलिये तो ये दोष कहीं न पाइयेगा ।''[1]

स्पष्ट है कि 'हिन्दी प्रदीप' ने सरल भाषा का प्रतिमान सामने रखा तथा उसकी वकालत भी की ताकि जनसाधारण से सीधा संवाद कायम किया जा सके । वह चाहता था कि सभी लेखक, पत्रकार भाषा के इस आदर्श को अपनाएं ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'हिन्दी प्रदीप' हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए सदा प्रयत्नशील रहा तथा भाषा को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से विदेशी शब्दों के ग्रहण में भी संकोच नहीं किया ।

'हिन्दी प्रदीप' क्योंकि एक साहित्यिक पत्र था अतः देश में राजनीतिक जागरूकता लाने, समाज के नव-निर्माण के लिए प्रेरित करने तथा हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहने के साथ ही उसका उद्देश्य यह भी था कि उच्चकोटि के निबंध, नाटक, उपन्यास, समालोचना, पुस्तक-समीक्षा तथा कविताएं प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य की समृद्धि करे ।[2] उक्त उद्देश्य से प्रेरित होकर 'हिन्दी प्रदीप' ने उत्तमोत्तम उपन्यास और नाटकों का धारावाहिक प्रकाशन किया । पत्र-प्रकाशन के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में

1- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर - नवम्बर - दिसम्बर 1887, पृ0 54

2- काव्यकला कौशल्य शिल्प विद्यादि उचारन
उत्तम उत्तम विषय देश भाषा सन्चारण
देश काल नियमानुसार मारग पग धारन
इत विधि निज उद्देश शेष लौं पूरन करन ।
-पं0 श्रीधर पाठक, श्री हिन्दी प्रदीप का उद्देश, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885

'चन्द्र सेन नाटक' का धारावाहिक प्रकाशन आरम्भ हुआ । विभिन्न विषयों एवं विविध शैलियों में निबंध प्रकाशित कर 'हिन्दी प्रदीप' ने निबंध विधा के विकास में ऐतिहासिक योग दिया । महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' अगस्त 1906 के अंक में 'हिन्दी प्रदीप' के विषय में इस प्रकार लिखा था कि, ''हिन्दी प्रदीप में अनेक मनोहर व उपयोगी लेख निकले हैं । प्राचीन संस्कृत कवियों के जीवन चरित लिखने में यह पत्र अद्वितीय है... इसके कुछ बहुत ही अच्छे लेखों की नामावली हम नीचे देते हैं.... प्राचीन देश, नगर, नदी पर्वतों आदि का वर्णन भी प्रदीप में निकल चुका है । 'नृपति-चरितावली' नामक लेखमाला में इस देश की छोटी बड़ी रियासतों का हाल भी छप चुका है । ऐसी दिल्लगी की बातें भी इसमें कभी कभी रहती हैं । इसके पुराने अंकों में परसन नाम के एक लेखक के लेख बहुत ही हास्य-रस पूर्ण हैं । भट्ट जी के लेख प्रायः नये होते हैं । किसी की छाया या अनुवाद नहीं ।''[1]

वास्तव में 'हिन्दी प्रदीप' ऐसा पत्र था जो युग की विचारधारा के अनुकूल विविध विषयों की सामग्री से पूर्ण था । 'हिन्दी प्रदीप' के संबंध में स्वयं सं० बालकृष्ण भट्ट के विचार इस प्रकार थे, ''पाठक ! इस बतीस साल की जिंदगी में जितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास नाटक तथा अन्यान्य प्रबंध मैंने पढ़े हैं वे सब यदि पुस्तकाकार छपा दिये जायं तो निःसंदेह हिन्दी साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय।''[2]

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा क्योंकि अगले अध्याय का प्रतिपाद्य 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य का विवेचन-विश्लेषण है ।

महत् उद्देश्य से प्रेरित 'हिन्दी प्रदीप' यावज्जीवन कठिनाइयों का सामना करता रहा आर्थिक संकट के साथ-साथ अपनी उग्र विचारधारा के कारण 'हिन्दी प्रदीप' को समय-समय पर अंग्रेज सरकार की कुदृष्टि का भी शिकार होना पड़ा था । 'हिन्दी प्रदीप' को निकलते अभी एक वर्ष भी न हुआ था कि 14 मार्च 1878 को 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट'[3] लागू कर दिया गया । 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' के लागू होते ही 'हिन्दी प्रदीप' के

1- सरस्वती, अगस्त 1906

2- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1895, पृ० 17

3- इस कानून के द्वारा सरकार को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह देशी भाषाओं के सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक से यह इकरारनामा लिखा ले कि वह ऐसी कोई बात प्रकाशित नहीं करेगी, जो जनता में सरकार के प्रति घृणा या विद्रोह भावना का सृजन कर सकती हो ।

सहयोगी छिन्न-भिन्न हो गए ।[1] इस प्रेस एक्ट के डर से कई पत्रकार अपनी नीति से हट गए किन्तु 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया । 'प्रेस एक्ट' पर व्यंग्य करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया था, "अखबार वालों के बड़ी हानि की बात इसमें यह है कि जब इस एक्ट के विरूद्ध कोई बात पत्र में छपेगी तो जिले का मजिस्ट्रेट उस अखबार के पब्लिशर या प्रिंटर को लोकल गवर्नमेंट की आज्ञा लेकर तलब करेगा और धमकी दे दबाय उससे एक मुचलका लिखवा लेगा भला ऐसा भी कभी सुनने में आया है कि जो किसी को दोष लगाये वही उसका न्याय करे ।"[2]

देशी समाचार पत्रों को समय-समय पर प्रेस एक्ट का सामना तो करना ही पड़ता था, सरकार द्वारा राजभक्त समाचार पत्रों की तुलना में लगाए गए अधिक टैक्स का भार भी वहन करना पड़ता था । 'हिन्दी प्रदीप' ने सरकार की उक्त नीति का समय-समय पर विरोध किया था ।[3]

उग्रनीति, विचार स्वातंत्र्य, निर्भीक राष्ट्रीयता के कारण 'हिन्दी प्रदीप' को समय-समय पर सरकार के विरोध का तो सामना करना ही पड़ा, साथ ही इसे बराबर अर्थाभाव बना रहा । 'हिन्दी प्रदीप' को 'अर्थ' इसमें छपने वाले विज्ञापनों[4] तथा ग्राहकों

1- "किन्तु मुक्त मुकुलित ही औंखे पढ़े हमें प्रगट हुए देर न हुई थी कि प्रेस एक्ट का जन्म हुआ । प्रेस एक्ट का नाम सुनते ही छात्र मण्डली छिन्न भिन्न हो गई । निज की उन्नति के आगे हिन्दी की उन्नति का उत्साह भंग हो गया... सोचने लगे कि इस पाप का प्रायश्चित किस भांति हो जिसमें आगे को यह किसी के मुँह से न निकल जाय कि छात्र दशा में ये भी हिन्दी के हितैषी थे और ऐसे एक पत्र के सहायक रहे जो अराजक विषय के लेख के लिए बदनाम था । अस्तु धीरे 2 जितने पहले इसके मेम्बर थे सब छोड़ बैठे... प्रेस एक्ट की कृपा से बहुत दिनों तक साल में कई बार मजिस्ट्रेट साहब के यहाँ तलब किए जाते थे... ।"

— निजवृत्तांत' शीर्षक लेख, हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1905, पृ02

2- हिन्दी प्रदीप, मई 1878, पृ0 2-3

3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1888, मार्च 1887

4- हिन्दी प्रदीप संबंधी चौथा नियम, "इश्तिहार या विज्ञापन की छपवाई प्रति पंक्ति 1 आना ली जायगी ।"

के पदे से प्राप्त होता था । किन्तु ऐसे ग्राहकों की संख्या बहुत कम थी जो समय पर पत्र का मूल्य दे देते थे । ग्राहकों की अधिकांश संख्या ऐसी थी जो पत्र मँगवा तो लेते थे किन्तु सम्पादक के तकाजा करने पर चुप्पी साध जाते थे । 'हिन्दी प्रदीप' के प्रायः सभी अंकों में 'इसे पढ़ लो', 'चेतावनी', 'विज्ञापन', 'सूचना' आदि शीर्षकों के माध्यम से ग्राहकों से मूल्य चुका देने के लिए तगादा रहता था । 'हिन्दी प्रदीप' के मई 1880 का उल्लेख ही इस प्रकार है, '' ग्राहक जन यह तो निश्चय है कि बिना पुश दिलाए आप कोई को चेतेंगे वर्ष समाप्त होने पर आया अभी तक मूल्य भेजने की याद आप को न आई इसे चेत दिलाते हैं कि तीन रुपया कृपा कर इस मास के भीतर भेज हमें अनुगृहीत कीजिए ।''[1]

किन्तु जब बार-बार मूल्य भेज देने के निमित्त किए गए तकाजों एवं निवेदनों का, प्रभाव भी जब ग्राहकों पर नहीं पड़ता था तब 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं०बालकृष्ण भट्ट ग्राहकों पर व्यंग्य करते हुए इस प्रकार लिखा करते थे, '' वाह रे हिन्दी की कदरदानी धन्य हो । किन्तु भाइयो, हमारे गत मास के विज्ञापन पर एक महापुरुष ने भी ध्यान न दिया, बेहयाई कहिये तो इसे जैसी हमारे कितने ग्राहकों में पाई गई और नसूर कहिये तो यह कि इतने पर भी अखबार लिखने का नसूर न मिटा, न आशा की दुराशा दूर हुई कि एक न एक दिन हम अपने भाइयों को समझा ही लेंगे । इस दशा में यह डोंगा के दिन पार जा सकता है ।''[2]

1- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1880, पृ० 18-19

2- एजारी बाग से 'हिन्दी प्रदीप' के एक पाठक ने पत्र का मूल्य न देने वाले ग्राहकों पर व्यंग्य करते हुए लिखा था, '' कि... और रहने दे भड़ुआ सम्पादक मुझे मिले हैं न देगा तो क्या नाम छपा देगी... क्या तू ही अकेला है बहुतेरे पड़े हैं ? क्या तेरे ही देने से सम्पादक का घाटा पूरा जाता है इसी में सब रुपया पूरा देगा तो बीवी नसीबन को क्या देगा.... हम हिंदू कहलाते हैं और हिन्दी को नहीं चाहते तो मुझे ऐसे लोगों के हिन्दू होने में कुछ दाल में काला नजर जान पड़ता है.... कोई महाशय मेरे इस कहने का बुरा न मानें मैंने यथार्थ ही जो जैसा बीत रहा है उसी का उल्लेख कर लेखनी को इतना कष्ट दिया ।''

— बाबू महावीर प्रसाद का पत्र, हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1880, पृ०16-17

'हिन्दी प्रदीप' ने गद्य के माध्यम से ही नहीं पद्य के द्वारा भी 'नादेहन' ग्राहकों पर व्यंग्य किया –

''चल गब्बडी आवत है पत्र का मँगावत है ।
साल पूरे दाम देत चुप साध जावत है ।''[1]

वास्तव में हिन्दी पत्रकारिता की यह सर्वाधिक व्याधि थी, जिसका कटु अनुभव उस युग के प्रत्येक सम्पादक को चखना पड़ा था । 'उचितवक्ता' सम्पादक ने तो 'उचित-वक्ता' में, एक सम्पादकीय ही लिखा था कि, '' कौन कहता है कि भारतवासियों में एका नहीं है ? और इस का उपसंहार करते हुए लिखा था कि और किसी बात में चाहे एका न भी हो पर समाचार पत्र का मूल्य न देने में तो पूरा एका है ।

इसी अर्थाभाव के कारण 'हिन्दी प्रदीप' के अनेक संयुक्तांक निकले । 'हिन्दी-प्रदीप' का पहला संयुक्तांक अक्तूबर - नवम्बर - दिसम्बर 1887 ई० में निकला था । तैंतीस वर्ष के लम्बे जीवन काल में 'हिन्दी प्रदीप' के 57 संयुक्तांक निकले ।[2] संयुक्तांक निकलने पर 'बंगवासी' पत्रिका ने 'हिन्दी प्रदीप' की आलोचना की थी जिसका उल्लेख, दुःख के साथ 'हिन्दी प्रदीप' के सं० पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हमारी अंत की भेंट' शीर्षक लेख में किया था ।[3]

अर्थाभाव एवं ब्रिटिश सरकार की 'कुटिल नीति' के कारण, अपने 33 वर्षों के जीवनकाल में 'हिन्दी प्रदीप' घूम-घूम कर आठ प्रेसों में मुद्रित हुआ । आरम्भ में 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन 'विक्टोरिया प्रेस' से हुआ किन्तु वहाँ से दो ही अंक निकल पाए थे कि विक्टोरिया प्रेस के मालिकों ने इसे छापने से इन्कार कर दिया । इसके बाद 'हिन्दी प्रदीप' नवम्बर 1877 से अगस्त 1884 तक गोपीनाथ पाठक के प्रबंध में 'बनारस लाइट प्रेस', सितम्बर 1884 से अगस्त 1886 तक ज्योतिप्रसाद के प्रबंध से 'प्रयाग यंत्रालय', सितम्बर 1886 से जून 1888 तक मुंशीकन्हू राम के प्रबंध से 'देशोपकारक

1- परसन, 'गबद्दी', हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर 1889, पृ० 10
2- मधुकर भट्ट, पं० बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० 142
3- ''.... सबसे बड़ा क्लेश अर्थकृच्छता है इसीलिए बहुत दिनों से हमें कई महीने का एक साथ निकालना आरम्भ किया कि नहीं कुछ तो पोस्टेज की किफायत होगी जिस पर बंगवासी ने हमारी भीतरी बातों को न जान कई बार आक्षेप किया वह भी क्या करें लाचार हो सहना पड़ा ।''
–हिन्दी प्रदीप, जुलाई-अगस्त 1898, पृ० 29

यंत्रालय', जुलाई 1888 से अगस्त 1890 तक मोहनलाल के प्रबंध से 'प्रयाग यंत्रालय', सितम्बर 1891 से अगस्त 1895 तक 'सारस्वती यंत्रालय' सितम्बर 1895 से फरवरी 1907 तक रघुनंदन सहाय पाठक के प्रबंध में 'यूनियन प्रेस', मार्च 1907 से अप्रैल 1908 तक सत्यानंद जोशी के प्रबंध में 'अभ्युदय प्रेस', तथा अक्तूबर 1909 से फरवरी 1910 तक गंगादास चौक इलाहाबाद से पंडित सुन्दरलाल के प्रबंध में छपा।

इस प्रकार 'निज के प्रेस'[1] के अभाव में अनवरत कठिनाइयों का सामना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' आठ प्रेसों में घूम-घूम कर छपा।

पाठकों के अभाव, अर्थकृच्छता तथा अंग्रेज सरकार की कुटिल दृष्टि के कारण, तैंतीस वर्षों के दौरान हिन्दी प्रदीप का प्रकाशन तीन बार थोड़े-थोड़े समय के लिए बंद हुआ। सर्वप्रथम 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई-अगस्त 1898 में बंद हुआ, जिसका उल्लेख पं0 पं0 बालकृष्ण भट्ट ने इस प्रकार किया था, ''.... हमारी कदर करने वाले और समय से चुकता कर देने वाले जितने लोग चाहिये उतने होते तो हमारी यह दशा क्यों होती कि 21 वर्ष तक रहे अब उच्छिन्न हुए जाते हैं – यदि अब भी हमारा यह विलाप किसी के मन में असर करता है और हमारे सहायक कोई खड़े हो जाते तो कुछ दिनों चलने की हम फिर हिम्मत बाँधते पर काहे को ऐसा होना है इसी अब हमारी इति है।''[2]

निस्संदेह 'हिन्दी प्रदीप' का लम्बे समय तक निकलते रहना, भट्ट जी के लगन और कर्मठता का सूचक है, ''हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भिक युग के 33 वर्षों तक एक गम्भीर पत्रिका का चलाना जहाँ एक ओर ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, वहीं भट्ट जी की असाधारण लगन और कर्मठता को भी सूचित करती है।''[3]

1- ''.... इतनी लालसा हमारी बनी रही कि अपने निज का एक छोटा सा प्रेस खरीद इसे पाक्षिक कर दिखाते पर यह लालसाएं जीवन में काहे को पूरी होने वाली हैं... ।''

—हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1905, पृ0 3-5

2- हिन्दी प्रदीप, जुलाई-अगस्त, 1898, पृ0 29

3- डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ0 354

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' शाखा मिर्जापुर से आर्थिक सहायता मिलने पर 'हिन्दी प्रदीप' का पुनः प्रकाशन जनवरी 1899 में हुआ, जिसका उल्लेख पं०बालकृष्ण भट्ट ने 'हमारा पुर्नजन्म' अग्रलेख में इस प्रकार किया था, ''काशी की नागरी प्रचारिणी सभा शाखा मिर्जापुर को सहस्त्रों धन्यवाद है... जिसके उद्योग और सहाय ने हमारे में फिर से जान फिरोहा और पहिले के रूप से हमारा उद्धार कर हमें उठाये खड़ा किया। अब तो कुछ दिनों के लिए अजर अमर हुए आगे देखा जायेगा।''[1]

दूसरी बार 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन जनवरी 1902 से दिसम्बर 1902 अर्थात् एक साल तक बंद रहा। तीसरी बार 'हिन्दी प्रदीप' मई 1908 में बंद हुआ। इस बार 'हिन्दी प्रदीप' के बंद होने का कारण अर्थाभाव नहीं, अपितु सरकारी कोप था। 'हिन्दी प्रदीप' के अप्रैल 1908 के अंक में माधो प्रसाद शुक्ल की 'बम क्या है?[2] शीर्षक कविता प्रकाशित हुई, जिसको लेकर सरकार ने सम्पादक से जवाब-तलब किया तथा पत्र प्रकाशन पर रोक लगा दी। 'हिन्दी प्रदीप' से संबंधित इस समाचार को तत्कालीन सभी पत्रों ने प्रकाशित किया। प्रयाग से प्रकाशित होने वाले पत्र 'अभ्युदय' ने 24 जुलाई 1908 के अंक में इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ''... हिन्दी प्रदीप 30 बरस से निकलता चला आया है। साल में उसका आकार भी बढ़ गया। पण्डित जी को गत शनिवार के दिन यहाँ के कलक्टर मि० मेकनेयर ने अपने बंगले पर बुलाया। वहाँ उनसे गवर्नमेंट की ओर से कहा कि अप्रैल की संख्या में 'बम क्या है ?' इस शीर्षक

1- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर - जनवरी 1899, पृ0 1-3

2- ''जब जब नृप अत्याचार महा करते हैं।
और प्रजा दुखी चिल्लाते ही रहते हैं।।
नहिं दीनों की जब कहीं सुनवाई होती।
तब इतिहासों की बात सत्य ही होती
''माधव'' कहता, यह किसका बुरा करन है ?
सोचो यह क्या है जो कहलाता बम है।''

— माधव प्रसाद शुक्ल, बम क्या है,? हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1908, पृ0 37-38

की जो कविता 'हिन्दी प्रदीप' में छपी थी वह राजद्रोही है और यह आगाही दी कि यदि फिर उस पत्र में इस तरह के लेख छपेंगे तो उनके ऊपर मुकदमा चलाया जायगा ।[1]''

'हिन्दी प्रदीप' से अगाध स्नेह के कारण तथा देश व समाज के लिए 'हिन्दी-प्रदीप' जैसे जागरूक व देशहितैषी पत्र की आवश्यकता को महसूस करके सं० बालकृष्ण भट्ट ने अक्तूबर 1909 में 'हिन्दी प्रदीप' का पुनः प्रकाशन किया किन्तु सन् 1910 में लागू हुए 'प्रेस एक्ट' के अन्तर्गत[2] अंग्रेज सरकार ने 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट से तीन हजार रुपये की जमानत माँगी, जिसे न दे पाने के कारण अप्रैल 1910 में 'हिन्दी प्रदीप' सदा के लिए बंद हो गया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगातार आर्थिक कष्ट सरकार तथा ब्रिटिश कोप की परवाह न करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' ने जन चेतना के विकास की और अग्रसर किया । उसने जन आकांक्षा को वाणी दी तथा हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं को समृद्ध करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई ।

1- मधुकर भट्ट, पं० बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व व कृतित्व, पृ० 83 पर उद्धृत

2- ''.... 1908 के इनसाइटमेंट टू वायोलेन्स एक्ट (विद्रोहात्मक - अधिनियम) के उपरान्त 1910 में प्रेस एक्ट बना ।.... इसके निषेधक नियमों के अंदर सब कुछ - उच्च साहित्य भी आ सकता था । इस एक्ट के अनुसार पत्र से 2000 रु० तक की जमानत माँगी जा ही नहीं, जब्त भी की जा सकती थी ।''

— अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ०च

तीसरा अध्याय

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य और भाषा

भारतेन्दु - युग आधुनिक हिन्दी साहित्य, बड़ी बोली हिन्दी तथा हिन्दी पत्रकारिता की दृष्टि से आरम्भिक युग है ।[1] इस युग में हिन्दी भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से ऐतिहासिक कार्य किए गए । इन प्रयत्नों को तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । ''हिन्दी प्रदीप'' ने युग का प्रतिनिधित्व करते हुए हिन्दी साहित्य एवं भाषा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई । उसने रीतिकालीन सामन्ती मूल्यों को प्रश्रय देने वाले साहित्य, जो कि जनसमूह से सर्वथा कट गया था, के विरुद्ध साहित्य में सामाजिक यथार्थ को वाणी दी । सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट ने स्पष्ट रूप से कहा था कि, ''साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है ।''[2]

हिन्दी प्रदीप' ने साहित्य व समाज के घनिष्ठ संबंध को विविध रूपों में प्रतिपादित करने वाले साहित्य को अपने अंकों में छापने की कोशिश की ।[3] उसके मुख-पृष्ठ पर छपा रहता था, '' विद्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसंबंधी इत्यादि के विषय में," '' हर महीने की । ली को छपता है ।''[4]

1- यही कारण है कि प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में भारतेन्दु - युग की पत्रकारिता के लिए आरम्भिक युग पद का प्रयोग किया गया है ।

2- हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881, पृ० ।

3- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि, ''उन्होंने हिन्दी प्रदीप, गद्य साहित्य के लिए ही निकाला था । सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे-छोटे गद्य प्रबंध ये अपने पत्र में निकालते रहे ।''

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 318

4- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर, 1877 मुख-पृष्ठ

इन विधाओं में भी प्रमुखता निबंध विधा को दी गई । इसका कारण स्पष्ट है । भारतेन्दु - युग पुनर्जागरण का युग था — नवीन-पुरातन का संघर्ष काल । उस समय राजनीतिक दृष्टि से देश परतन्त्र था तथा समाज व धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों की प्रधानता थी । युग-सचेत साहित्यकारों का यह कर्तव्य था कि पाठकों को देश-दशा से परिचित कराते हुए, उन्हें पुरानी रूढ़ियों से अवगत कराते हुए नये विचारों की ओर ले आयें । इसके लिए आवश्यक था कि विचारों और भावाभिव्यक्ति के लिए ऐसे सहज, सरल, तथा स्पष्ट माध्यम को अपनाया जाय, जिससे पाठकों से सीधा संवाद स्थापित हो सके । कहना न होगा कि निबंध - विधा इस दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त थी ।

उस काल में निबंध विधा के विकास में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों, शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा अंग्रेजी व बंगला साहित्य के प्रभाव के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से सर्वाधिक सहायता मिली । क्योंकि पत्र-पत्रिकाएँ ही ऐसा माध्यम थीं जिनके द्वारा पाठकों से नित्य-प्रति सम्पर्क स्थापित किया जा सकता था तथा निबंधों के माध्यम से अपने विचारों व भावों को प्रभावोत्पादक ढंग से पाठकों तक सीधा पहुँचाया जा सकता था । यही कारण है कि उस युग की पत्र-पत्रिकाओं में निबंध प्रधानता के साथ प्रकाशित हुए हैं ।

आरम्भिक - युग में लिखे गए निबंध प्रमुखतः सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं से प्रभावित-प्रेरित थे । इन निबंधों का उद्देश्य समाज के नव-निर्माण के लिए प्रेरित करने के साथ ही जनता को अंग्रेजों की शोषण-नीति से परिचित कराते हुए स्वाधीनता आन्दोलन के लिए उन्हें संगठित करना था । इसी बृहत्तर उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'हिन्दी प्रदीप' में अपने बलि साहित्य का एक बड़ा हिस्सा निबंध के रूप में प्रकाशित हुआ ।

तत्कालीन युग की मांगों के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकारों और शैलियों के निबंध उस युग में लिखे गए । 'हिन्दी प्रदीप' में ज्यादातर निबंध भट्ट जी ने ही लिखे हैं । राजनैतिक, सामाजिक, तथा मनोविज्ञानिक विषयों पर तो भट्ट जी ने निबंध लिखे ही, उन्होंने जीवन्तशैली में कुछ साहित्यिक निबंध भी लिखे हैं, जिसे आज ललित निबंध (व्यक्ति-व्यंजक निबंध) कहा जाता है ।

सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध इन निबंधों में विषय-प्रतिपादन तार्किक और संतुलित ढंग से हुआ है। निश्चय ही इन निबंधों की इस विषय स्पष्टता का कारण उनकी विषय-सापेक्ष सहज, सरल, चुटीली भाषा भी है, जिसके बारे में आचार्य शुक्ल का कथन है कि, "पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी ही होती थी जैसी खरी-खरी सुनाने के काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिढ़चिढ़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं।... भाषा उनकी चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।"[1]

कहना न होगा कि संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट उस युग के प्रौढ़ निबंध लेखक थे। 'हिन्दी प्रदीप' के प्रकाशन से पूर्व उनके निबंध 'काशी पत्रिका', 'बिहार-बंधु' तथा 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित हुए थे।[2] जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'हिन्दी प्रदीप' में अधिकतर निबंध स्वयं भट्ट जी के हैं, जो एक हजार के लगभग हैं। 'हिन्दी प्रदीप' में छपे इन निबंधों की उत्कृष्टता और बहुलता को देखकर श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने यहाँ तक कहा है कि, "बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम निबंध लेखक माने जा सकते हैं।.... 1877 के लगभग हिन्दी निबंधों के जन्म से भाषा में मार्मिक, सरल व संयत ढंग से भाव व्यक्त करने की क्षमता आई।"[3]

पं० बालकृष्ण भट्ट प्रगतिशील विचारों वाले बुद्धिजीवी थे। 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक के रूप में उन्होंने समग्र साहित्य को समाजोन्मुखी बनाने के प्रयत्न किए।

भट्ट जी के अधिकांश सामाजिक - राजनैतिक निबंध तत्कालीन सामाजिक समस्याओं यथा – बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, स्त्रियों की दुर्दशा, जातीयता, जाँत-पाँत आदि से जुड़े हुए थे, जिनके लिए साहित्येतर क्षेत्रों में 'ब्रह्म समाज', प्रार्थना समाज तथा 'आर्य समाज' आदि संस्थायें भी प्रयत्नशील थीं।

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 307

2- डॉ० देवीदत्त शुक्ल एवं धनन्जय भट्ट, भट्ट निबंधावली, भाग-1, पृ09

3-(क) श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 133

3-(ख) वैसे भट्ट जी के प्रथम निबंधकार होने के संदर्भ में वार्ष्णेय जी के उपर्युक्त विचार उनका अपना है जो निश्चित रूप से विचारणीय है किन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कुछ निबंध भट्ट जी से पहले ही छप चुके थे।

समाज में प्रचलित बाल-विवाह की कुप्रथा ने देश को दुर्बल महारोगी और जीर्ण बना डाला था । भारत की दरिद्रता के अन्य कारणों में से एक कारण यह बाल-विवाह भी था । 'कटाकट क्षुधा' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने उसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि, '' देश में क्षुधा का क्लेश जो दिन-दिन बढ़ रहा है उसमें साम्पत्तिक शासन की प्रणाली की भाँति 2 की कड़ाई के अतिरिक्त एक यह भी है कि बाल्य-विवाह आदि अनेक कुरीतियों की बदौलत हम लोगों की निकम्मी सृष्टि अत्यंत बढ़ती जाती है जिसमें सिंह के छौनों का पुरुषार्थ कहीं छू नहीं गया... पुरुषार्थ के अभाव से नया धन आता नहीं परिणाम जिसका भूख क्लेश बढ़ाने के सिवाय और क्या हो सकता है । ''[1] क्षुधा के क्लेश की बात जिस तरह भट्ट जी करते हैं उससे यह पता चलता है कि आर्थिक विपन्नता के कारणों की गहरी चेतना उनमें थी ।

''क्या हम अपना खोया हुआ महत्त्व पा सकते हैं '' शीर्षक निबंध में उन्होंने बाल-विवाह को राष्ट्रीय एकता के मार्ग का रुकावट माना, '' हमारी प्रचलित रीति-नीति बाल्य-विवाह इत्यादि जातीयता कौमीयत की बड़ी बाधक है बिना उसके छोड़े हम सैकड़ों बार एन्ट्रेंस करते रहें तालीम के अन्तिम छोर पर पहुँच जायें कुछ न होगा । ''[2]

अतः भट्ट जी ने ''हिन्दुस्तान को फायदा पहुँचाने के उपाय'' शीर्षक निबंध में इसके विरुद्ध कठोर से कठोर कदम उठाने के लिए प्रेरित करते हुए लिखा है कि, ''बाल्य-विवाह के उत्साही पुराने लोगों की आँखें फोड़ दी जायँ जिसमें दूध मुँहों के गले में चक्की बाँध जो उनका जन्म नष्ट कर देने को आँख का सुख मानते हैं उस सुख से सदा के लिए वंचित रहें न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी । ''[3]

'बाल्य-विवाह' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने बाल-विवाह को सभी कुरीतियों की जड़ माना –

1- हिन्दी प्रदीप, मई से अगस्त 1903, पृ0 4

2- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1906, पृ0 23

3- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1908

''सकल दोष की खानि, वीर्य हरन दारिद कान ।
आलस की जड़ जानि, त्यागहु बाल्य विवाह को ।''[1]

यही कारण है कि उन्होंने समाज में प्रचलित बाल-विवाह की कुप्रथा का विरोध करते हुए लिखा है कि, ''यदि बाल-विवाह बंद कर दिये जायं तो पुरुषों की मृत्यु संख्या इतनी घट जाय कि विधवा विवाहों की आवश्यकता ही न पड़े ।''[2]

जाति-पांति, वर्ण-भेद, सम्प्रदाय भेद में बंटे हिन्दू समाज में एकता का बराबर अभाव रहा । अंग्रेज हिन्दू समाज में प्रचलित इन्हीं कुरीतियों का लाभ उठाकर अपने साम्राज्य को सुदृढ़ कर रहे थे । अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' नीति का आधार वर्ण-भेद ,सम्प्रदाय - भेद तथा भारत में फैले धार्मिक मतांधता ही था । भारत की उन्नति के लिए आवश्यक था कि समाज में प्रचलित इन कुरीतियों को दूर किया जाय । 'जात-पांत' शीर्षक निबंध में पं० बालकृष्ण भट्ट ने जातिप्रथा की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि, ''हमारे देश में जाति का इतना जोर है कि इतनी हलचल हुई, प्रायः बहुत सी पुरानी बातें लुप्त हो गईं बहुत से मत-मतान्तर ऐसे फैले जिससे इसे जड़ पेड़ से उखाड़ना चाहा - पर यह जाति पिशाची अभी तक जैसी थी वैसी बनी हुई है.... जाति-पांति के सत्यानाश हुए बिना उन्नति की हजार-हजार चेष्टा करने पर भी हमारे देश की कभी तरक्की न होगी । स्वाधीनता की नाक काटने वाली इस जाति-पांति की कुरीति देख यही मन में आता है कि हे परमेश्वर हमने कौन सा ऐसा पाप किया था जिसका फल भोगने को ऐसे कुलक्षिनी समाज में तूने हमें पैदा कर दिया ।''[3]

साहित्यकारों तथा समाज सुधारकों द्वारा समाज-सुधार के लिए किए गये प्रयत्नों के प्रति भारतीय जनता की परिवर्तन-विमुखता पर व्यंग्य करते हुए पं० बालकृष्ण भट्ट ने, 'कष्टात्कष्टतरंक्षुधा' शीर्षक निबंध में लिखा है कि, ''.... यहाँ दूसरा कोढ़ परिवर्तन विमुखता का लग रहा है, मनु के समय जो दो पहियों का छकड़ा निकला उसमें फिर अब तक कुछ अदल-बदल न हुई - शायद इसके बराबर का ऐसा ही कोई दूसरा पाप होगा कि बाप दादा के समय की प्रचलित रिवाज में परिवर्तन किया जाय - जो कुछ दोष उसमें

1- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1880,पृ0 9

2- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1884,पृ0 1-5

3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1889,पृ017

आ गया है उसे मिटाय संशोधन करना मानो अपने लिए नरक का रास्ता साफ करना है उसका यह लोक परलोक दोनों गया... ।''[1]

परिवर्तन के प्रति पूर्वाग्रह के कारण ही भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा अत्यंत शोचनीय थी । समाज में पुरुष जहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश तक चले जाते थे और ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित होते थे, वहीं भारतीय नारी पर्दा प्रथा के कारण घर की देहरी तक नहीं लाँघ पाती थी । भट्ट जी ने, 'हमारी ललनाओं की शोचनीय दशा' शीर्षक निबंध में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि, '' हा ! हमारी ललनाओं की शोचनीय दशा में लाने के लिए यह परिवर्तन विमुखता अलबत्ता गहि पकड़े हुए है — बाबू साहब ढदान तोड़ विलायत की राह सिधारने के लिए कदम उठाए हुए हैं बाबु आइन घर बैठी गोबर ही पाथती रही — बाबू साहब लाला साहब मिस्टर सी एस सी कहे जाने की उमंग में फूले नहीं समाते ललाइन वैसा हव्वा ही रही आई ।''[2]

समाज व देश की उन्नति के लिए आवश्यक था कि स्त्रियों को भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त शिक्षा दी जाय । क्यों कि यदि स्त्रियाँ अशिक्षित रहेंगी तो वे ढोंग, अन्धविश्वास और धार्मिक प्रपंचों से मुक्त नहीं हो पाएँगी । 'धर्म का महत्व' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने स्त्रियों के लिए आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा, '' स्त्रियों को तालीम की जरूरत है — मीर हसन की मसनवी, विष्णु सहस्त्र नाम पोथा पुराण, प्रेम सागर, शुक सागर की नहीं... भूगोल इतिहास भाँत 2 के विज्ञान इन्हें सिखाय जायें जिसके पढ़ने से इनकी विवेक शक्ति बढ़े हिन्दू धर्म की सब पोल खुल जाय... अपनी पतित दशा का पूरा बोध हो जाय... ।''[3]

1- हिन्दी प्रदीप, मई से अगस्त 1903, पृ0 5-7

2- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1894, पृ0 14

3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल से जून 1894, पृ0 6

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित भट्ट जी के नारी-विषयक कुछ प्रमुख निबंध इस प्रकार हैं – 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी',[1] 'स्त्रियाँ और उनकी शिक्षा'[2], 'सुगृहिणी'[3], 'स्त्रियाँ',[4] 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं',[5] 'स्त्री शिक्षा'[6], 'पत्नीत्व'[7] आदि ।

ज्ञान-विज्ञान से युक्त आधुनिक शिक्षा का पक्ष लेते हुए भी भट्ट जी ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त उन नवयुवकों पर व्यंग्य किया, जो सब तरह से अंग्रेजों की नकल करना ही फैशन समझते थे । 'नई गढ़न्त के नए सूत्र' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने 'नई रोशनी की पहचान' बताते हुए, मुँह के बल गिरने वाले फैशन के गुलामों पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि, '' नई रोशनी की पहचान – सिर पर छोंका, – मुँह में फक्का , पाँव में बूट आँख पर चश्मा ।''[8]

वास्तव में मैकाले की शिक्षा-नीति का उद्देश्य ही था – भारत में एक ऐसा शिक्षित वर्ग पैदा करना, जो जन्म व वर्ण से भारतीय हो किन्तु जिसकी मानसिकता अंग्रेजियत में पूरी तरह रंगी हो ।[9] 'चूकते ही गए' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने अंग्रेजी

1- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1882, पृ0 1-7

2- वही, फरवरी, 1885, पृ0 14-19

3- वही, जुलाई-अगस्त, 1885, पृ03

4-वही, जुलाई 1891

5- वही, सितम्बर , 1898, पृ0 1-4

6- वही, अक्तूबर, 1899, पृ0 7-12

7- वही, मार्च, 1903, पृ0 13-15

8- हिन्दी प्रदीप, जनवरी-अप्रैल , 1896

9- ''हमें इस समय एक ऐसा वर्ग पैदा करने में पूरी शक्ति लगानी चाहिए, जो हमारे और उन लाखों लोगों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिये का काम कर सके – ऐसे लोगों का एक वर्ग, जिनका रक्त और रंग भारतीय हो किन्तु जो रुचि, विचारों, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हों ।''

–भारतीय चिन्तन परम्परा, के0दामोदरन, पृ0 351

की शिक्षा-नीति का पर्दाफाश करते हुए लिखा, "यहाँ सरकारी राज्य स्थापित हुआ तो अल्प वेतन में काम करने वाले न मिलते थे। गोरे यूरोपियनों को बड़ी तनख्वाहें देनी पड़ती थीं इसलिए शिक्षा विभाग स्थापित किया गया और थोड़ी तनखाहें दे कर के वही काम यहाँ वालों से निकलने लगा।"[1]

इसी प्रकार अंग्रेजों ने देश में रेल, डाक और तार की व्यवस्था भी अपने ही फायदे के लिए किया था।[2] भारत की उन्नति उनका लक्ष्य नहीं था।

अंग्रेजों का वास्तविक उद्देश्य भारत से धन तथा अनाज ढोकर अपने देश में ले जाना था। भिन्न-भिन्न प्रकार के टैक्स लगाकर प्रजा का शोषण करना था। पं०बालकृष्ण भट्ट ने जनता को आगाह करते हुए, भारत की दरिद्रता के कारणों का उल्लेख एक निबंध में इन शब्दों में किया, "हिन्दुस्तान के इस गरीबी पर ध्यान दीजिए तो जो कर अब गवर्नमेंट लेती है वही इनके लिए अति से अति है... प्रजा का प्राण और नस-नस के में लोहू के समान धन इस समय अनेक टिक्सों के द्वारा सरकार उगाहती है और धीरे-धीरे फिजूल खर्ची की रीति पर फूंकती है। जितना अन्धा-धुन्ध खर्च इस देश के राज-प्रबंध में होता है उतना पृथ्वी मंडल के किसी देश के राज-प्रबंध में नहीं होता।"[3]

अतः शोषण को स्थायी बनाने के लिए अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता का बीज बोया तथा हिन्दुओं - मुसलमानों को एक दूसरे के विरूद्ध भड़काया। भट्ट जी ने एक निबंध में हिन्दू-मुसलमानों की एकता पर बल देते हुए लिखा है कि, "जब कभी कोई अत्याचार गवर्नमेंट के कर्मचारियों के हाथ से देश पर बन पड़ता है, तो दोनों ही कौमों को मुजिर

1- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1908, पृ० 2

2- "देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रेल दौड़ा दी गई... जिससे सौदागरों के एक 2 खेत से अन्न ढो विलायत पहुँचाने का सुबीता हो.... दूसरे फौज इत्यादि के पहुँचाने में सुबीता हो गया। ऐसे 2 न जानिये कितने फायदे सोच रेल यहाँ चलाई गई।"

— हिन्दी प्रदीप, मार्च 1908, पृ02

3- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1886, पृ06

होता है । इसलिए विचारशील हो इन सब बातों की ऊँच-नीच भली-भाँति तौलकर मुसलमानों को चाहिए कि हिन्दुओं के साथ बैर-भाव को सदा के लिए तलाक दे देना हर तरह पर मुनासिब समझें ।''[1]

इसी तरह, भट्ट जी ने 'कांग्रेस की आलोचना' शीर्षक निबंध में, कांग्रेस, प्रतिष्ठित महाजनों, ताल्लुकेदारों, तथा नौकरपेशा लोगों की आलोचना करते हुए लिखा है कि ''.... यहाँ दस बरस से कांग्रेस हो रहा है किसी की नस में जान न आई बल्कि कांग्रेस ही को दिन-दिन जौफ व कमजोरी आती जाती है.... देश के सौदागर प्रतिष्ठित महाजन ताल्लुकेदार इज्जत और नाम के पीछे मरते हुए केवल निज स्वार्थ चाहते हैं देश और कौम की हानि-लाभ क्या बात है सर्वहित 'पब्लिक इन्टरेस' क्या है जानते ही नहीं.... जो सरकारी नौकर है उन्होंने मानो अपने को बेच डाला है... इस दशा में किसे उम्मीद हो सकती है कि इस मृतक भारत में फिर से जीवन आवेगा ।''[2] यही कारण है कि उन्होंने जनता की शक्ति में विश्वास व्यक्त करते हुए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने की प्रेरणा दी थी ।[3]

भट्ट जी ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उग्रपंथी नेताओं द्वारा चलाये जा रहे स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन करते हुए लिखा है कि, ''चला जाय चरखा भिन्न-भिन्न स्वदेशी बायकाट जातीय शिक्षा भिन्न भिन्न.... बाम्बरपल टांगने वालों की जमात में शरीक होने के अपराध में अरविन्दो बाबू गिरफ्तार हुए हैं किन्तु एक क्या सौ अरविन्द पकड़े जायँ और जेल में भेजे जायँ यह चरखा कभी बंद होने वाला नहीं मालूम होता चला ही चला ।''[4]

1- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885, पृ015

2- हिन्दी प्रदीप,

3- हिन्दी प्रदीप, जून 1886, पृ07

4- हिन्दी प्रदीप, [illegible]

कहना न होगा कि 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित सामाजिक निबंधों में जहाँ सुधार की तीव्र भावना मिलती है, वहीं राजनीतिक निबंधों में ब्रिटिश सरकार की जन-विरोधी कार्यों की तीखी आलोचना के साथ ही जनता को उसके विरुद्ध संगठित होकर आन्दोलन करने की प्रेरणा भी मिलती है। 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी के प्रकाशित कुछ प्रमुख निबंध इस प्रकार हैं – 'भारत का भावी परिणाम क्या होगा',[1] 'पुलिस',[2] 'काबुल युद्ध का विचार',[3] 'समाज बंधन',[4] 'जातीयता',[5] 'हिन्दुस्तान की विद्या और तालीम की गिरानी',[6] 'दुर्भिक्ष दलित भारत',[7] 'सूदखोरी',[8] 'पश्चिमोत्तर में तालीम की गिरानी',[9] 'नई सभ्यता की बानगी',[10] 'कृषि की दयनीय दशा'[11] आदि।

हिन्दी प्रदीप के अंकों में धार्मिक तथा नैतिक विषयों से संबंधित निबंध भी प्रकाशित हुए हैं। इन धार्मिक निबंधों में धर्म को सामाजिक विकास के साथ जोड़ कर देखा गया है। भट्ट जी ने धर्म और राजनीति के अटूट संबंध की व्याख्या करते हुए, 'धर्म वही सर्वसम्मत है जो राजनैतिक बुनियाद पर है,' शीर्षक निबंध में लिखा है कि, ".... जब देश या समाज कुछ और बात चाहती है और सर्वसाधारण में प्रचलित धर्म दूसरी और ढुलक रहा है तब परिणाम उसका यही होगा कि समाज अत्यंत पतित हो वहाँ के लोगों को दुर्बल कर उन्हें नित्य नीचे को गिराती जायगी। उस धर्म को तो हम धर्म ही न कहेंगे बल्कि यह तो धर्म के आभास में सर्वथा अधर्म है।"[12] निश्चय ही धर्म को सामाजिक विकास से जोड़ कर देखना, भट्ट जी के प्रगतिशील दृष्टिकोण का

1- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1878, पृ01-2
2- वही, जुलाई 1878, पृ0 4-5
3- हिन्दी प्रदीप, जून 1880, पृ08-10
4- हिन्दी प्रदीप, जून 1880, पृ0 5-8
5- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1880, पृ03-6
6- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1885, पृ0 1-3
7- हिन्दी प्रदीप, जनवरी-मार्च 1891, पृ01
8- हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1891, पृ014-18
9- हिन्दी प्रदीप, जनवरी-मार्च 1895, पृ01-4
10-हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1897, पृ04-6
11-हिन्दी प्रदीप, जुलाई-अगस्त 1905, पृ011-14
12-हिन्दी प्रदीप, अगस्त-सितम्बर 1889, पृ014

परिचायक है ।

पतनोन्मुख हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए भट्ट जी ने 'धर्म का महत्त्व' शीर्षक निबंध में धर्म में युगानुकूल परिवर्तन पर जोर देते हुए लिखा है कि, '' हिन्दू धर्म यहाँ तक 'डिजनरेट' पतित और नष्ट भ्रष्ट हो गया है कि त्रिदेव और पंचायत पूजन को छोड़ कबे शीतला भवानी से लेकर भूत-प्रेत पिशाच डाकिनी शाकिनी बाले मियाँ गाजी मियाँ हुसेन तक को पूजती है और फिर भी फूले नहीं समाते... हर तरह की चपकुलियों में पड़े कांख रहे हैं सही पर उस बंधी लकीर के बाहर न होंगे - तीस या चालीस वर्ष पहिले बाल जैसी पाते थे वे सब आज के दिन तक यथोचित जैसी की तैसी बनी है जरा तबदील की गंध भी किसी में नहीं पाते ।''[1]

समाज के ठेकेदार पंडित, पुरोहित, मुल्ला जी प्रत्यक्षतः अपने को समाज व देश का हितैषी बताते थे किन्तु छिप-छिप कर मद्यपान भी बुरा नहीं समझते थे, ऐसे दुहरे चरित्र के लोगों की कटु आलोचना करते हुए,[2] भट्ट जी ने 'चरित्र शोधन' शीर्षक निबंध में चरित्र को देशोन्नति से जोड़ कर देखा, '' कौम की सच्ची तरक्की तभी कहलावेगी जब एक आदमी उस जाति या कौम के चरित्र सम्पन्न और भलमनसाहत की कसौटी में कसे हुए अपने को प्रगट कर सकते हों... जैसा हमारे मन में, वैसा ही मुख पर और जो मुख पर है वह हम अपने कामों में प्रगट कर दिखावें ।''[3]

भट्ट जी के धार्मिक तथा नैतिक निबंधों में, 'हम ही सब से बुरे हैं',[4] 'पुराण क्या है',[5] 'त्रिदेव कल्पना',[6] 'मन की दृढ़ता'[7], 'आचरण',[8] 'आत्म-

---

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल से जून 1894, पृ05-6

2- ''... हिन्दू धर्म में तो ऐसे पाखण्डी हैं जिनके लिए छिप के मद्य भी गंगाजल है जाहिरा में अर्क मुँह में रखा कि धर्म गया... रहा गुप्त व्यभिचार सो उसी को छिपाने की हिकमत यह लम्बा तिलक लम्बी धोती और लम्बी माला है ।''
—हिन्दी प्रदीप, जून 1879, पृ01-2

3- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1892,

4- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1880, पृ02

5- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1885, पृ06

6- हिन्दी प्रदीप, जून 1886, पृ06-9

7- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1886

8- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1888

गौरव',[1] 'आत्म-त्याग'[2], 'भक्ति'[3], 'कर्त्तव्य परायणता'[4], 'तीर्थों' की तीर्थता'[5], आदि प्रमुख हैं, जो 'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में प्रकाशित हुए थे ।

किन्तु भट्ट जी ने सिर्फ सामाजिक - राजनीतिक विषयों से संबंधित निबंध ही नहीं लिखे, बल्कि साहित्यिक ललित निबंध भी लिखे जिसे शुक्ल जी ने 'व्यक्ति-व्यंजक'निबंध कहा है । जीवन और जगत के सामान्य विषयों से संबंध रखने वाले इन ललित निबंधों के केन्द्र में रचनात्मकता अधिक होती है, इसलिए इन निबंधों में लालित्य की प्रधानता रहती है, किन्तु साथ ही इनमें विरल विचार खण्ड कुछ उक्तिवैचित्र्य के साथ बिखरे हुए मिलते हैं । इन व्यक्तिव्यंजक ललित निबंधों में शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं ।[6]

भारतेन्दु - युग में ललित निबंध अधिकतर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखे गए किन्तु पं० बालकृष्ण भट्ट के ललित निबंधों की यह विशेषता है कि उसमें ग्राम्यता प्रायः नहीं है और कल्पना की स्वच्छंद उड़ान के बीच, सर्वत्र एक बौद्धिक सजगता मिलती है । भट्ट जी के कुछ प्रमुख ललित निबंध -'मेला ठेला',[7] 'कल्पना'[8], 'बातचीत'[9], 'भालभट्ट'[10], 'आँसू'[11], 'चली सो चली'[12], 'ढोल के भीतर पोल'[13] तथा 'चन्द्रोदय'[14] आदि हैं जो इस युग के निबंधों की एक खास

1- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1891

2- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर 1893; पृ०5-8
3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल से जून 1894, पृ०32-34
4- हिन्दी प्रदीप, मई से अगस्त 1903, पृ०36-40
5- हिन्दी प्रदीप, मार्च, 1906, पृ० 1-3
6- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०309

7- हिन्दी प्रदीप, जून 1889

8- पं० बालकृष्ण भट्ट, साहित्य सुमन

9- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1891, पृ०1-6
10-साहित्य सुमन, पृ०89-90
11- पं० बालकृष्ण भट्ट, साहित्य सुमन, पृ० 105-109
12- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1898, पृ० 20-24
13- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1903
14- हिन्दी प्रदीप, फाल्गुन सं० 1966, पृ०25-26

व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है । मुहावरों का सटीक प्रयोग इन ललित निबंधों की एक खास विशेषता है ।

'चन्द्रोदय' शीर्षक निबंध भट्ट जी के उत्कृष्ट काव्यात्मक निबंधों में से एक है जिसमें कल्पनाशीलता, लालित्य के साथ ही अलंकरण की छटा भी विद्यमान है, ''अंधेरा पाख बीता उजेला पाख आया । पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हँसिया की तरह चन्द्रमा उसी दिशा में दिखलाई पड़ा मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचण्ड ताप से दुःखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिए जा रहा है । अब तो पश्चिम और आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया है क्या सचमुच ही कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया जिससे रक्त बह निकला अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्त आभा है ?.... ।''

यहाँ सूर्य के पश्चिम दिशा में अस्त होने तथा चन्द्रमा के पश्चिम दिशा से ही उदित होने का अद्भुत काव्यात्मक वर्णन पं० बालकृष्ण भट्ट ने किया है । भारतेन्दु- युग के निबंधकारों में अलंकृत विवरणात्मकता का प्रयास पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के निबंधों में भी मिलता है किन्तु 'प्रेमघन' जी के निबंधों में भाषा का यह लालित्य, वर्णन की सजीवता और स्वाभाविकता तथा प्रवहमान शैली का अभाव पाया जाता है । यही कारण है कि डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा भट्ट जी को हिन्दी का प्रथम निबंध लेखक ही नहीं, 'गद्य काव्य निर्माता' भी मानते हैं ।[1]

कल्पना के साथ ही शैली का चुटीलापन भट्ट जी के 'कल्पना' शीर्षक निबंध में देखा जा सकता है, '' यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है.... कणाद तिनका खाकर किनका बीनने लगे... कपिल बेचारे पचीस तत्वों की कल्पना करते-करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गए । व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं, सब कल्पना ही कल्पना मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है ।''[2]

1- डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृ० 45

2- बालकृष्ण भट्ट, साहित्य सुमन

इन ललित निबंधों में पं0 बालकृष्ण भट्ट के उन निबंधों की चर्चा भी की जा सकती है जो उन्होंने स्वप्न कथा शैली में लिखे हैं । भारतेन्दु - युग में, 'राजा भोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद सिंह), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) तथा 'यमलोक की यात्रा' (राधा चरण गोस्वामी) आदि स्वप्नशैली में लिखे गए प्रमुख हास्य-व्यंग्य पूर्ण निबंध हैं । पं0 बालकृष्ण भट्ट ने इन निबंधों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में स्वप्नशैली में हास्य-व्यंग्य पूर्ण निबंध लिखे, यथा-- 'धूमकेतु'[1], 'अद्भुत स्वप्न'[2], 'दंभाख्यान'[3], 'एक अनोखा स्वप्न'[4] तथा 'एक अशरफी का आत्मवृतांत'[5] आदि ।

'एक अनोखा स्वप्न' निबंध में भट्ट जी ने यथार्थ चित्रण को आधार बनाते हुए स्वत्व हीन राजाओं के कठमुल्लेपन, अफसरों की स्वार्थपरता तथा अंग्रेजों की लोभी प्रवृत्ति पर पैना व्यंग्य किया है, ''... इनकी सब रौनक और चमक-दमक केवल ऊपर से देखने ही को है भीतर 2 पोले जर्जरित हो रहे हैं -- स्वच्छंदता का सुख इन्हें अणुमात्र भी नहीं है ये कहने ही को राजा हैं राजत्व और क्षत्रियत्व का आभास मात्र बच रहा है.. .. एजेंट साहब की खुशामद और सेवा में सदा तत्पर रहते हैं.... कोई ऊँची से ऊँची पदवी और दरबार में प्रथम श्रेणी की कुर्सी पाने की फिकिर में व्यग्र हैं लाखों अपने आश्रितों की कुछ भलाई का खयाल कभी एक मिनिट के लिए नहीं होता.... ।'' अंग्रेजों की लोभी वृत्ति तथा साम्राज्य विस्तार की नीति पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी ने इसी निबंध में आगे लिखा है कि, ''जहाँ के लोग सभ्यता शिक्षा शिल्प विज्ञान और फैशन में लोकोत्तर

1- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1880, पृ0 1-2

2- हिन्दी प्रदीप, जून 1882, पृ0 59

3- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर, पृ0 1889, पृ0 24-28

4- हिन्दी प्रदीप, जनवरी-मार्च 1897, पृ0 9-13

5- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1900

ही जगत भर का शिक्षा शुरू बन रहे हैं.... किन्तु लोभ यहाँ तक बढ़ रहा है कि समस्त भूगोल हस्तगत होने पर भी लोभ एक सीमा तक नहीं पहुँच सका।"[1]

भारतेन्दु-युग में स्वप्नशैली में लिखे गये निबंधों की उपयोगिता को बताते हुए डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि, "जनता में जागृति फैलाने के इस तरह के विचित्र साधन भारतेन्दु-युग के लेखकों ने अपनाए थे।"[2]

शैली की दृष्टि से भट्ट जी ने एक ओर जहाँ विश्लेषणात्मक तथा विवरणात्मक सामाजिक - राजनैतिक निबंध लिखे, दूसरी तरफ स्तोत्र शैली तथा नाटकीय संवाद - शैली को भी अपने निबंधों का माध्यम बनाया। स्तोत्र तथा नाटकीय संवाद-शैली में लिखे गए भट्ट जी के निबंध इस प्रकार हैं — 'हुक्का स्तवम्'[3], 'म्युनिसिपैलिटी स्तोत्रम्'[4], 'ग्राहक स्तुति'[5], 'पत्नीस्तव'[6], 'गायत्री का कुत्सित कलाप'[7], दो दूर देशी'[8] 'लार्ड लिटन और मि० ट्रेची'[9], तथा 'डाक्टर सूम की एक नकल'[10] आदि प्रमुख हैं। स्तोत्र शैली तथा नाटकीय संवाद - शैली में लिखे गए इन निबंधों में वैचारिकता के साथ व्यंग्य का पैनापन तो है ही, साथ ही हास्य का पुट भी भरपूर मात्रा में है।

भट्ट जी के निबंधों की चर्चा यहाँ विस्तार से इसलिए की गई है क्यों कि सिर्फ 'हिन्दी प्रदीप' में ही नहीं, उस युग में भी उन्होंने सर्वाधिक निबंध लिखे हैं जो उस समय लिखे जा रहे निबंधों की प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी के अतिरिक्त अन्य लेखकों के भी विविध प्रकार के निबंध प्रकाशित हुए जो तत्कालीन निबंध साहित्य के उद्देश्यों की ही पूर्ति करते हैं।

1- हिन्दी प्रदीप, जनवरी-मार्च 1097, पृ० 9-13

2- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु - युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ०74

3- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1880, पृ04

4- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1882, पृ

5- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1884

6- हिन्दी प्रदीप, जनवरी से मार्च 1903, पृ0 13-15

7- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1908, पृ0 20-22

8- हिन्दी प्रदीप, मई, 1878, पृ0 3-4

9- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1880, पृ० 9-10

10- हिन्दी प्रदीप, जून 1895, पृ० 9-10

'उदयराम पंड्या'[1], 'गणपति जानकी राम दुबे'[2], 'जीवन मिश्र'[3], 'जु0 राम स्वामी'[4], 'द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी'[5], 'प्रतापनारायण मिश्र'[6], 'बालादीन शुक्ल'[7], 'ब्र0 म0 कूल'[8], 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'[9], 'मूलचन्द भट्ट'[10], 'मुहम्मद अब्दुल रऊफ'[11], 'महादेव भट्ट'[12], 'लोचन प्रसाद पाण्डेय'[13], 'हरदेव प्रसाद द्विवेदी'[14] 'हरिमंगल मिश्र'[15], 'हरिराम पाण्डेय'[16] आदि प्रमुख लेखक थे ।

1- भारतवर्ष के साथ लार्ड लिटन के चिरस्मरणीय कृत्य (हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1879, पृ0 3-4) 'सच मत बोलो' (हिन्दी प्रदीप 1878, पृ09) 'तीन' (हिन्दी प्रदीप, मई 1886, पृ0 7-8) 'एक' (हिन्दी प्रदीप, मई 1886, पृ0 8-10) 'चूणाक्षर' (हिन्दी प्रदीप, फरवरी-मार्च 1881, पृ0 17-18) ।

2- 'गुणवती गृहिणी' (जनवरी-अप्रैल 1904, पृ0 31-41) 'स्त्री शिक्षा के दोष' (नवम्बर - दिसम्बर 1904, पृ0 9-13) 'परोपकार' (हिन्दी प्रदीप, मई 1905, पृ0 7-10) 'गुण दोष निरूपण' (हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1907, पृ0 9-13) ।

3- 'स्वदेशी वस्तु के प्रचार पर पिता पुत्र का संवाद'

4- 'चली सो चली' (हिन्दी प्रदीप, जनवरी-मार्च 1895)

5- 'वर्षाऋतु' (हिन्दी प्रदीप, मई से जुलाई 1904)

6- 'कलयुग ककहरा' (हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1885, पृ0 22-23) 'पतिव्रता' (हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1888, पृ0 21-24)

7- 'कालचक्र' (हिन्दी प्रदीप, संवत् 1966, पृ0 18-21)

8- 'चलता जादू' (हिन्दी प्रदीप)

9- 'सूर्योदय' (हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1885, पृ0 14-17)

10- 'भारत के दुर्दिन के कारण सदा न रहेंगे' (हिन्दी प्रदीप, मार्च-अप्रैल 1903, पृ031-42) 'भारत के भावी सुदिन' (हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1906, पृ0 10-11)

11- 'पंच का एक प्रपंच' (हिन्दी प्रदीप)

12- 'ईमानदारी' (हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1906, पृ0 9-12) 'मत' (जुलाई-अगस्त 1900, पृ0 7-10) 'अप्रैल फूल की बची खुची भूल' (हिन्दी प्रदीप, मई 1906, पृ016-18)

13- 'हमारा सच्चा मित्र' (हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1905, पृ0 10-11)

14- 'आंतरिक जनित दुर्गति' (हिन्दी प्रदीप, मई 1881, पृ0 16-20)

:: अंग्रेजी शिक्षा के गुण-दोष' (हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1890, पृ027-29)

15- 'उद्देश्य और लक्ष्य' (हिन्दी प्रदीप)

16- 'बाल्य विवाह और विधवा विवाह' (हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1884, पृ023-24)

विधा के रूप में निबंध के इस सर्वांगीण विकास के साथ ही हिन्दी गद्य के इस आरम्भिक युग में हिन्दी आलोचना का भी जन्म और समुचित विकास हुआ । इस विकास में 'हिन्दी प्रदीप' का योगदान सर्वाधिक है ।[1] बल्कि कहना तो यह चाहिए कि 'हिन्दी प्रदीप' में ही पहली बार सैद्धान्तिक रूप में, ''संयोगिता स्वयंवर'' नाटक की पहली समीक्षा प्रकाशित हुई, जिसे गंभीर आलोचना की दिशा में पहला कदम कहा जा सकता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय भट्ट जी के साथ ही 'प्रेमघन' जी को भी दिया है, ''समालोचना का सूत्रपात एक प्रकार से भट्ट जी और चौधरी साहब ने भी किया । पुस्तकों के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई ।''[2]

किन्तु हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय भट्ट जी को ही जाता है क्योंकि स्वयं पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनंदकादम्बिनी' पत्रिका में 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में की गई 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की आलोचना का उल्लेख इस प्रकार किया था कि, '' नाट्य रचना के बहुतेरे दोष 'हिन्दी प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाए हैं । अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते, हम केवल अलग-अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं ।''[3]

यों तो ''संयोगिता स्वयंवर'' की ''सच्ची समालोचना'' से काफी पहले, 'हिन्दी प्रदीप' के मार्च 1878 के अंक में लाला श्री निवासदास रचित नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' की समीक्षा प्रकाशित हुई थी जिसे भट्ट जी ने, ''हिन्दी भाषा में ब्रजेडी के किसिम का पहला नाटक'' कहा था ।

1- "The most important paper for study of the development of Hindi criticism in the 19th century is 'Hindi Pradeep' - Dr. Ram Ratan Bhatnagar, The rise and growth of Hindi journalism, p.188

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 521

3- प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय तथा दिनेश नारायण उपाध्याय, प्रेमघन सर्वस्व, भाग-2, पृ० 424

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा को हिन्दी में गंभीर आलोचना की दिशा में पहला कदम कहा जा सकता है । दरअसल परम्परा से चली आ रही काव्य समीक्षा का संक्रमण के इस युग में कृति तथा युग की माँगों के साथ बदलना स्वाभाविक ही था ।[1] आलोचना की इस बदली हुई भूमिका के सन्दर्भ में डा० निर्मला जैन ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है । डा० निर्मला जैन लिखती हैं कि, ''आधुनिक काल की हिन्दी आलोचना को रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी विरासत में मिली । परन्तु सहसा उस परिपाटी को छोड़कर जो एक नए आलोचना मार्ग की आवश्यकता का अनुभव आधुनिक युग ने किया उसका एक बहुत बड़ा कारण पाठक समुदाय का बदल जाना था ।''[2]

'हिन्दी प्रदीप' में साहित्य के सिद्धान्त तथा व्यवहार पक्ष से सम्बन्धित दोनों प्रकार की आलोचनाएँ प्रकाशित हुई जिनमें से लगभग सारे के सारे स्वयं भट्ट जी के लिखे हुए हैं ।

साहित्य एवं समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध को मानने के कारण इस युग में समीक्षा का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ से जुड़ गया । भट्ट जी ने साहित्य को इतिहास से श्रेष्ठ माना क्योंकि इतिहास तो बाह्य घटनाओं का चित्रण मात्र करके रह जाता है, जबकि साहित्य में व्यक्ति विशेष का नहीं, जनता के परिवर्तनशील चित्त — आभ्यंतरिक भाव का चित्रण रहता है । 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' शीर्षक निबंध में साहित्य को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा कि, ''प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का

1- ''इस बदलाव का संबंध.. उस नए ढंग की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है जो इस साहित्य के माध्यम से सामने आई । भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' या 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों अथवा समसामयिक प्रश्नों पर लिखी कविताओं के किसी भी तरह के मूल्यांकन के लिए, प्राचीन लक्षण ग्रन्थों की पूरी सम्पदा बेकार हो गई ।''
— डा० निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना बीसवीं शताब्दी, पृ०2

2- डा० निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना बीसवीं शताब्दी, पृ० ।

आदर्श रूप है जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है ये सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं ।''[1] निस्संदेह भट्ट जी के साहित्य संबंधी इस चिन्तन का संबंध साम्यवाद विरोधी चेतना से है ।

इसी प्रकार भट्ट जी ने साहित्य तथा सभ्यता के घनिष्ठ संबंध का निरूपण करते हुए साहित्य और सभ्यता को एक दूसरे से प्रभावित बतलाया ।[2] उनके अनुसार साहित्य के द्वारा किसी देश की सभ्यता की उन्नति-अवनति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, '' साहित्य का सभ्यता से न केवल घनिष्ठ संबंध है वरन् साहित्य का प्रधान अंग है – यह कभी नहीं हो सकता कि कोई देश सभ्यता में बढ़ जाय और साहित्य वहाँ की भाषा का पीछे हटा रहे – जो देश सभ्यता के घोर तक पहुँच गिरी दशा में आ गया है तो वहाँ का साहित्य ही उस देश की सभ्यता का मापना होता है कि वहाँ सभ्यता किस सीमा तक पहुँच चुकी थी ।''[3]

साहित्य का समाज से घनिष्ठ संबंध मानने के कारण ही उन्होंने क्लासिकल कविता की गरिमा और सौंदर्य को स्वीकार करते हुए भी उसमें नैसर्गिकता के अभाव की शिकायत की, '' यह हम मानते हैं कि इस दशा में कविता की अत्यंत वृद्धि हुई और पहले की अपेक्षा सुगमता और सौंदर्य भी उसे अधिकतर होता गया परन्तु स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है – हमारी मन की उमंगें सच्ची हैं हमारी भावनायें सच्ची हैं तो जो बातें हमारी चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा,.. .... ।''[4]

1- पं० बालकृष्ण भट्ट, साहित्य सुमन, पृ० ।

2- ''जैसे कमल को अपने विकास के लिए सूर्य की आवश्यकता है वैसा ही सभ्यता को अपने विकास के लिए साहित्य की आवश्यकता है और सभ्यता का असर जितना अधिक देश के साहित्य पर पड़ता है और चिरस्थायी रहता है उतना किसी दूसरी बात पर नहीं – बिना साहित्य के सभ्यता वैसी ही फीकी है जैसा बिना नोन का भोजन विरस और फीका मालूम होता है ।''
'साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ संबंध है', शीर्षक निबंध, 1900, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर, पृ०18

3- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर 1900, पृ०18

4- 'सच्ची कविता' शीर्षक निबंध, हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1886, पृ०15

शास्त्रीय नियमों में बँधी ''संस्कृत कविता 'क्लासिक पोयट्री' अवश्यमेव कृत्रिमता दोषपूरित रहेगी'' क्योंकि उसमें नवीन भावों एवं विषयों का समावेश सरल रूप में किया जाना संभव नहीं है। यही कारण है कि नियमों में बँधी रीतिकालीन कविता में एक हद तक समाज-निरपेक्ष भावनाओं एवं विषयों का पिष्टपेषण मिलता है। इसके विपरीत जनजीवन से जुड़ी हुई कविता में, ''सच्ची कविता का सहारा पाया जाता है अर्थात् उसमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खिंची हुई पायी जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता जो यहाँ तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की एक निराली दुनियाँ केवल कवि जी के मस्तिष्क मात्र में स्थान पाये हुए है।''[1]

जाहिर है कि 'क्लासिक कविता' से भट्ट जी का तात्पर्य रीतिकालीन कविता से था [2] जिसमें कवि की 'कवित्वशक्ति नायिका के नखशिख वर्णन' तक ही सीमित होकर रह गई थी। 'सच्ची उमंग एवं भावनाओं' को कविता में, पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा महत्व देना एक प्रकार से स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का पूर्व-संकेत था, जिसका विकास आगे चलकर छायावाद युग में हुआ।

कविता पर विचार करने के साथ ही भट्ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में 'नाटक' तथा उपन्यास पर भी विचार किया। तत्कालीन युग में पारसी नाटकों का अनपेक्षित प्रभाव भारतीय जनमानस पर तथा हिन्दी नाट्य साहित्य पर पड़ रहा था। पारसी थियेटर द्वारा मंचित नाटक यथार्थ जीवन की समस्याओं से दूर आशिकी - माशुकी पर आधारित होते थे। यही कारण है कि ''पारसी थियेटर'' शीर्षक निबंध में उसका विरोध करते हुए भट्ट जी ने लिखा है कि, ''हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द से जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम नुस्खा यह पारसी थियेटर है जो दर्शकों की आशिकी माशुकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है, क्या मजाल जो तमाशबीनों का कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुआनी की झलक मन में आने पाये हिन्दी और हिन्दुस्तान दोनों का पतन.... ।''[3]

1- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1886, पृ० 15

2- ''यहाँ उनका तात्पर्य सभी कवियों से नहीं, बल्कि रीतिकाल के कवियों से है।''
—श्री नंदकिशोर नवल, आलोचना, अक्तूबर-दिसम्बर 1976, पृ०10

3- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर-दिसम्बर 1903, पृ० 8-9

'उपन्यास' शीर्षक निबंध में उपन्यास को अंग्रेजी 'नावेल' का अनुवाद मानते हुए भट्ट जी ने संस्कृत काव्य-परम्परा के अन्तर्गत उनके कुछ कथात्मक ग्रन्थों की चर्चा की है। इनमें निहित कमियों को बताते हुए उन्होंने उसमें उपन्यासत्व का अभाव दिखलाया। भट्ट जी उपन्यास को मनोरंजनार्थ मानते थे। किन्तु उनके आगे के कथन से मनोरंजन का अर्थ बताती नहीं रह जाता क्योंकि उन्होंने उपन्यास में मनोरंजन से अधिक 'सुख' की मांग की। दण्डी के 'दशकुमार चरित' की आलोचना करते हुए भट्ट जी ने लिखा था कि ''उपन्यास के ढंग का दण्डी कवि का दशकुमार चरित है उसमें प्रसाद गुण और पदलालित्य तो अलबत्ता है पर उन दस राजकुमारों का चरित इतना 'इमोरल' असत् है कि उससे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं निकलती।''[1]

उन्होंने अपने इसी मन्तव्य को इसी लेख में आगे और अधिक स्पष्ट किया, ''नावेल इमोरल असत् उपदेशक होकर भी बुरे और भले पात्रों के चरित्र का बराबर मुकाबिला करते अंत में भले पात्र को उपन्यास के किसी का मुख्य नायक बनाय एक ऐसी भारी शिक्षा उसमें से निकल आती है कि वह उसके समस्त असत् लेख को ढांप लेती है... ... ।''[2]

इसी आधार पर भट्ट जी ने लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा था कि, ''बन्दिश परीक्षागुरु की निस्संदेह बहुत उत्तमोत्तम और 'ओरिजीनल' है पर इसकी भाषा की रवाई और निरा उपदेश वाक्य पढ़ते 2 जी ऊब जाता है.... ।''[3]

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक निबंध 'ब्रह्मानंद-सहोदर',[4], 'काव्यामृतरसास्वाद',[5], 'माधुर्य',[6], 'रसाभास',[7], 'कौतुक',[8], 'प्रतिभा',[9]

1- 'उपन्यास' शीर्षक निबंध, हिन्दी प्रदीप, जून 1883

2- हिन्दी प्रदीप, जून 1883
3- हिन्दी प्रदीप, जून 1883
4- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1880, पृ0 16-20
5- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1885, पृ0 19-20
6- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1885, पृ0 5-7
7- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1886, पृ010-13
8- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1889, पृ0 1-3
9- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1906, पृ0 1-3

आदि हैं जिनमें विचारों की प्रौढ़ता के साथ ही, उन्हें परिभाषित करने की प्रवृत्ति मिलती है ।

जैसा कि कहा जा चुका है हिन्दी आलोचना की शुरूआत पुस्तक - समीक्षा से हुई, जिसमें गंभीर व्यावहारिक आलोचना के बीज भी निहित हैं ।[1] अतः इस युग में लिखी जाने वाली पुस्तक - समीक्षाओं का विश्लेषण अलग से संक्षेप में करना आवश्यक है, जिससे आधुनिक आलोचना की आरम्भिक प्रवृत्तियों को समझा जा सके ।

पत्र-प्रकाशन के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में पुस्तक -समीक्षाएँ प्रकाशित होने लगी थीं । मार्च 1878 में लाला श्री निवासदास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक की कुछ विस्तृत समीक्षा प्रकाशित हुई । भट्ट जी की दृष्टि में यह, ''हिन्दी भाषा में ट्रैजेडी के किसिम का पहला नाटक था ।'' उनके अनुसार इसमें श्रृंगार, हास्य और करुण आदि रसों का उत्तम ढंग से निर्वाह हुआ था । नाटक में पात्रों के यथार्थ चरित्र-चित्रण की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा था कि, '' रणधीर और प्रेममोहिनी का प्रेम, रिपुदमन का सच्चा मैत्री भाव जीवन की स्वामिभक्ति, नाथूराम का मालाहियों का सा बनियापन सुखवासी लाल की स्वार्थपरता सब बहुत अच्छी तरह से इसमें दिखाई गई है ।[2]

'रणधीर प्रेम मोहिनी' नाटक की समीक्षा के बाद 'हिन्दी प्रदीप' में लाला श्रीनिवासदास रचित ऐतिहासिक नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' प्रकाशित हुई जिसमें व्याख्या, विवेचन तथा मूल्यांकन का गंभीर प्रयास किया गया है ।

'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की कथावस्तु में ऐतिहासिकता के अभाव की ओर

1- ''दरअसल रचना ही आलोचना का सही सन्दर्भ है और उसकी सार्थकता की सच्ची कसौटी भी । इसलिए समकालीन रचनात्मक साहित्य की समीक्षा आलोचना की पहली जिम्मेदारी है । ऐसी ही समीक्षाओं के बीच से आलोचना का विकास होता है । इस दृष्टि से आलोचना के विकास में पुस्तक - समीक्षाओं का महत्व असंदिग्ध है... हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात पुस्तक समीक्षाओं से ही हुआ ।''

—डा० निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना बीसवीं शताब्दी, भूमिका

2- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1878, पृ० 16

संकेत करते हुए भट्ट जी ने ऐतिहासिक पुरावृत्त और ऐतिहासिक नाटक के अंतर को स्पष्ट किया था, ''लाला जी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे से पूछैं, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया -- क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने ही से वह लेख ऐतिहासिक हो जायगा यदि ऐसा है तो गप्प हांकने वाले दास्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा -- किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी उनके आभ्यंतरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय मात्र के भाव ' sprit of the time ' क्या थे -- इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उनके दरसाने का भी यत्न नाटकों के द्वारा कीजिए ।''[1]

कथोपकथन की अस्वाभाविकता[2] की आलोचना करने के साथ ही नाटक में चारित्रिक वैशिष्ट्य के अभाव की ओर इशारा किया था, '' हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति 'कैरेक्टराइजेशन' के भिन्न 2 होने ही से नाटक की शोभा देखा पर आपके सब के सब एक ही रस में सने उपदेश देने की कक्स में लथर पथर पाये गये और उस रस में आप ही के विद्या के प्रकाश का जहर भरा है ।[3]

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886, पृ0 16

2- केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने ही से तो नाटक के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते -- बल्कि नाटक के बदले आप के नाटक के पात्रों की नीरस और रूखे से रूखे व्यवहार अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कल कहैं तो अनुचित न होगा ।''

—हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886,पृ0 16-17

3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886,पृ0 17-18

इसी प्रकार नाटक में चरित्र की आत्मा की सही परख तथा पात्रों में शालीनता के अभाव [1] को बताते हुए अंत में भट्ट जी ने व्यंग्यात्मक शैली में नाटककार को यह सलाह दी, ''नाटक में पाण्डित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दरसाना चाहिए पर यदि उसके विपरीत आप एकता सच्ची प्रीति आदि विषयों पर अपने पात्रों के मुख से लेक्चर दिया चाहते हैं तो एक सलाह मेरी है -- इस नाटक को काट-छांट करके दो आठ दस (पेम्फ्लेट) छोटे 2 ग्रंथ छपवा दीजिए और दूसरी बार दूसरा नाटक लिखने का हौसिला कीजिएगा तब कृपा कर बेचारी निरपराधिनी कवित्व-शक्ति के भाव का प्राण ऐसे निर्दयता के साथ न लीजिएगा।''[2] उपर्युक्त कथन में व्यंग्यात्मकता के साथ शैली का चुटीलापन भी दृष्टव्य है।

भट्ट जी ने 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत समालोचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 'नाटक' शीर्षक सैद्धान्तिक निबंध में प्रतिपादित व्यावहारिक समीक्षा के आधार पर किया था।

नाटक के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' के लेखों में साहित्य की अन्य विधाओं से संबंधित पुस्तकों जैसे -- कविता और उपन्यास की भी समीक्षा की गई। पं० श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित 'एकान्तवासी योगी' की समीक्षा करते हुए भट्ट जी ने लिखा है कि, ''पं० श्रीधर रचित गोल्डस्मिथ हरमिट का अनुवाद खड़ी बोली में विशेष प्रशंसा के योग्य यह नवीन रचना इसलिए है कि अंग्रेजी में जो पद्य या उसका अनुवाद भाषा के पदों में ही किया गया है -- जहाँ जहाँ जितना ग्रंथकार ने अपनी ओर से मिलाया है वह भाग अधिक

1- लाला जी आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदुल प्रकृति होती है और कितनी प्रबल लज्जा उनमें होती है... स्त्रियाँ तो मर जायँ गी कदापि अपने पति से ऐसे वचन न कहेंगी कि मैं आपकी कण्ठाभरण हूँ -- प्रेयसी और प्राणवल्लभा हूँ.... ।''

-- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1886, पृ० 18-19

2- वही, पृ० 18

रसील और भावपूर्ण है।''[1]

'परीक्षागुरु' उपन्यास की विस्तृत समालोचना के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित कुछ पुस्तक समीक्षायें परिचयात्मक ढंग की हैं जिनका उद्देश्य पाठक को पुस्तक के अच्छे या बुरे होने की सूचना देना भर था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'विद्या सुन्दर नाटक' का परिचय इस प्रकार प्रकाशित हुआ था, ''श्री हरिश्चन्द्र विरचित डुमराव देशाधिपति श्री महाराज राधाप्रसाद सिंह देवबहादुर की सहायता से मल्लिकचन्द्र और कम्पनी द्वारा प्रकाशित यह दूसरी बार छापा गया है, नाटक अति ही उत्तम है और हिन्दी के उत्तम नाटकों में गणनीय है।''[2]

कहना न होगा कि 'हिन्दी प्रदीप' में जहाँ एक ओर सहज पुस्तक परिचय-मूलक समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं वहीं दूसरी तरफ 'संयोगिता स्वयंवर' जैसी विश्लेषणात्मक, विस्तृत और गंभीर आलोचना का प्रकाशन भी हुआ, जिसमें आलोचना के नये मानों के बीज अन्तर्निहित हैं।

उपर्युक्त पुस्तक समीक्षाओं के अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में 'शमशाद सौसन नाटक'[3], 'नीलदेवी नाटक'[4], 'मुद्राराक्षस'[5], 'चित्रांगदा'[6], 'साहित्यलहरी सटीक'[7], 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास'[8], 'संसार चक्र'[9], 'मल्लिकादेवी या बंगवासिनी'[10], 'तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी'[11], 'लाजपतमहिमा'[12] आदि कुछ प्रमुख समीक्षाएँ भी प्रकाशित हुईं।

1- हिन्दी प्रदीप, मई 1886
2- हिन्दी प्रदीप, जून 1883, पृ0 2
3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1880, पृ0 1
4- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1882, पृ0 3
5- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1888, पृ0 3
6- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1893,
7- हिन्दी प्रदीप, एप्रिल से जून 1894, पृ0 54
8- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1894
9- हिन्दी प्रदीप, संख्या 11/12, 1900
10- हिन्दी प्रदीप, जून 1906, पृ0 24
11- हिन्दी प्रदीप, जून 1906, पृ0 24
12- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1908

व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत ही भट्ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' में कवियों की कुछ जीवनीपरक समीक्षाएँ की जिनमें भविष्य में विकसित होने वाली तुलनात्मक समीक्षा के बीज भी निहित हैं ।

पं0 बालकृष्ण भट्ट ने कालिदास और भवभूति की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आलोचना की तुलनात्मक पद्धति की शुरुआत की । दोनों कवियों की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा, ''कालिदास की कविता के रसास्वाद को जो कन्द में सना मखान का लड्डू कहें तो भवभूति की कविता के रस को मिश्री की डोरी में मिली बालाई कहना चाहिए.... भवभूति के करुण रस में पत्थर भी मानो पिघल कर रोने लगता है.... उत्तर चरित में जानकी के वियोग में रामचन्द्र का विलाप सुनकर वज्र का भी हृदय चूर होता है.... कालिदास ने बीच 2 में करुण और वीर रस के लिए भी (शकुन्तला, मेघदूत, और विक्रमोर्वशी में) चेष्टा की है पर भवभूति की सी करुणा न लिख सके.... जैसा माघ-कवि का भारवि के साथ जोड़ है दण्डी का बाण के साथ वैसा ही कालिदास, भवभूति के साथ जोड़ जाते हैं ।''[1]

''साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है,'' शीर्षक निबंध में भट्ट जी ने कणाद और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के काव्य की तुलना वेदों से करते हुए अपनी जीवंत शैली में लिखा था कि, '' वेद जिन महापुरुषों के हृदय का विकास था वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समाज के आभ्यंतरिक भेद, वर्ण विवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह-तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे, कणाद या कपिल के समान अपने अपने शास्त्र के मूलभूत बीजसूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्व की छानबीन में दिन-रात नहीं डूबे रहते थे.... प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिमा को उनके सीधे सादे चित्त ने बिना कुछ छानबीन किए इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया । इसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख आनन्द-स्तिमित विहंग

1- हिन्दी प्रदीप, जून-जुलाई 1899, पृ0 30-32

कूजन समान कलकल रव से प्रकृति की प्रभात वन्दना का साम गाने लगे,... ।''[1]

'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी द्वारा की गई इस प्रौढ़ आलोचना के आधार पर डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि, ''उन्हें आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्मदाता कहना अनुचित न होगा । भारत और युरोप के साहित्यों की तुलना पहले-पहल उन्होंने ही अपने लेखों में की है । वेदों की ऋचाओं और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के काव्यों से तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनकी विद्वत्ता, विचार-स्वाधीनता तथा शब्द चयन शैली का बड़ा अच्छा उदाहरण है।''[2]

'कालिदास और भवभूति', 'श्री शंकराचार्य और गुरु नानक देव' आदि तुलनात्मक निबंधों के अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' में कवियों के जीवन चरित्र-संबंधी लेख भी प्रकाशित हुए जिनमें कवियों के जन्मस्थान, जन्मतिथि, रचनाकाल आदि से संबंधित तथ्यों का उद्घाटन किया गया है । 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित इस प्रकार के निबंधों की संख्या काफी है । इस तरह की जीवनीपरक समीक्षाएँ भट्ट जी के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखकों ने भी लिखी जिनमें शीतलमंगल मिश्र द्वारा लिखी गई 'उदयनाचार्य'[3] की जीवनी, व्यास रामशंकर द्वारा लिखी गई 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की संक्षिप्त जीवनी'[4] तथा 'संत समागम' शीर्षक से ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा द्वारा लिखी गई 'कबीरदास',[5] की जीवनी महत्वपूर्ण है ।

ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा ने 'कबीरदास' के जन्म के समय की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि, जिस समय कबीर का जन्म हुआ, '' ऐसा माना जाता है कि उसी समय भारत में हिन्दुओं की स्वतंत्रता का सूर्य पश्चिम में अस्त हो रहा था भारतवर्ष के अग्निवंशीय अंतिम राजा की स्वतंत्रता की अग्नि उस समय पर बुझ रही थी और मुसलमानों के राज्य का उदय हो रहा था ।''[6]

1- पं० बालकृष्ण भट्ट, साहित्य सुमन, पृ० 3

2- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ०88-89

3- हिन्दी प्रदीप, सन् 1900, जिल्द 23, सं० 11/12, पृ० 4-8

4- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1886, पृ० 1-12

5- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1906, पृ० 9-20

6- वही, अगस्त 1906, पृ० 9-20

इस जीवनीपरक निबंध में कबीर की साखियों के आधार पर लेखक ने उन्हें मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद विरोधी, धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त के समर्थक तथा एकेश्वरवादी माना है। कबीर की साखियों के संबंध में उनका विचार है कि, '' इन शब्द साखी कविता में प्रसाद गुण अधिक है.... कबीर ने अपनी पुस्तकों में सब बातें अनुभव सिद्ध लिखी हैं... उनकि बाज-बाज पदों की कविता बड़ी ही उत्तम मनोहारिणी है और बाज की बड़ी भद्दी... इस बात से मेरा अनुमान है कि कबीर नाम के कई साधु हुए हैं।''[1]

'पण्डितराज जगन्नाथ',[2] 'महाकवि श्री हर्ष',[3], 'महाकवि भवभूति',[4], 'महाकवि जयदेव',[5], 'महाकवि बाणभट्ट',[6], 'भट्टि भट्टो जी दीक्षित आदि कवि',[7], 'भगवत् शंकराचार्य'[8] आदि कुछ प्रमुख जीवनीपरक समीक्षापरक निबंध हैं जो 'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में समय-समय पर प्रकाशित हुए थे।

उस समय इतनी अधिक जीवनियों के प्रकाशन का कारण तत्कालीन पुनर्जागरण-युग की मानसिकता थी।

आज की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा उपन्यास का जन्म भी भारतेन्दु - युग में ही हुआ। उस युग में उपन्यास के जन्म के पीछे खड़ीबोली गद्य का विकास तो था ही, साथ ही आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन, शिक्षा की नई व्यवस्था, समाचार-पत्रों के प्रकाशन के कारण जिस मध्यम वर्ग का उदय हुआ, उसके जीवन की बहुमुखी तथा नवीन समस्याओं के यथार्थ चित्रण के लिए उपन्यास ही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम था।

1- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1906, पृ0 9-20
2- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1889, पृ0 3-7
3- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1892, पृ021-24
4- हिन्दी प्रदीप, जुलाई - अगस्त 1893, पृ0 22-28
5- हिन्दी प्रदीप, मई से जून 1896, पृ0 20-30
6- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1901, पृ0 30-32
7- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1905, पृ0 14-20
8- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1908, पृ0 1

तत्कालीन युग में हिन्दी उपन्यास के विकास की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' का योगदान महत्वपूर्ण है । 'हिन्दी प्रदीप' में काफी उपन्यास छपे किन्तु इनमें से अधिकतर अपूर्ण हैं । इसका कारण, ''निबंधों की लोकप्रियता थी । रोचक निबंधों में कथायें गढ़कर लेखक अपनी कथा साहित्य वाली रचनात्मक प्रतिभा का वहीं उपयोग कर लेते थे ।''[1]

'हिन्दी प्रदीप' में पं० बालकृष्ण भट्ट के अलावा कुछ अन्य लेखकों के उपन्यास भी प्रकाशित हुए जो चरित्र एवं समस्याप्रधान हैं । उस काल में लिखे जा रहे तिलस्मी और ऐयारी किस्म के उपन्यास 'हिन्दी प्रदीप' में नहीं छापे गये क्योंकि इस प्रकार के उपन्यास कल्पना एवं घटनाप्रधान थे तथा तत्कालीन सामाजिक- राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ थे ।

'हिन्दी प्रदीप' के मई 1883 के अंक में रत्नचंद प्लीडर का 'नूतन चरित्र' उपन्यास प्रकाशित हुआ । इस उपन्यास की कथावस्तु बहुत रोचक है । चित्रकला और विवेकराम में यात्रा के दौरान परिचय होता है । चित्रकला अपने भाई के पास दिल्ली चली जाती है और वहीं से एक सेठ द्वारा गायब कर दी जाती है । चित्रकला के भाई चेतराम तथा विवेकराम दोनों उसे ढूंढते हैं और होटल के भटियारिन और भटियारे को इसके अपराध में पकड़ लेते हैं । उपन्यास यहीं तक प्राप्त है ।

दो अंकों तक प्राप्त इस उपन्यास के बारे में अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि आगे क्या होने वाला है । सुधार भावना से प्रेरित इस उपन्यास का अंत निश्चय ही सत्य की विजय से होता ।

यह उपन्यास घटना प्रधान तथा वर्णनात्मक है जिसमें कहीं-कहीं मानव स्वभाव का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण सुन्दर बन पड़ा है । कानेल साहब के मरने पर उत्तराधिकारी के रूप में धन मिलने की आशा से चेतराम का यह सोचना स्वाभाविक ही है, ''ये दोनों उस असंख्य धन की टोह में पड़े जो कानेल साहब से मिलने वाला था और बड़े-बड़े विचार मन में आने लगे.... एक निहायत आलीशान मकान इसी शहर में बनवायेंगे और उसे झाड़ फानूस आदि शीशे इत्यादि लगावेंगे जिसके देखने के लिए लोग दूर 2 से आवेंगे...।''[2]

1- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ०98

2- हिन्दी प्रदीप, मई 1883

रामप्रकाश लाल द्वारा लिखी गई, 'एक क्षुद्र उपन्यास' 'ललितलता'[1] का एक ही अंक उपलब्ध है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह उपन्यास अंग्रेजों द्वारा 'आर्म्स एक्ट' जारी किए जाने के बाद लिखा गया था क्योंकि इस उपन्यास में 'आर्म्स एक्ट' का विरोध मिलता है।[2] इस उपन्यास में मुर्शिदाबाद के एक गांव के लेन-देन तथा बनियागिरी का काम करने वाले गोविन्दशाह और उसके पुत्र नरसिंह के चरित्र का वर्णन है। इसके कथानक में गति है। एक रात गांव पर डाकुओं का हमला होता है, जिसमें डाकू नरसिंह को घायल कर देते हैं तथा उसकी पत्नी का अपहरण कर लेते हैं।

सेठ गोविन्दशाह अपनी पुत्रवधू को ढूँढने का बिल्कुल प्रयास नहीं करता क्योंकि उसका विचार है कि, ''जिसको डाकू उठा ले गये और धर्म नष्ट हो गया उसका अनुसंधान करके क्या ?''[3] जाहिर है कि नैतिकता के प्रति गोविन्दशाह की यह सामन्ती दृष्टि है।

किन्तु नरसिंह अपनी पत्नी के प्रति इतना क्रूर नहीं हो पाता और उसे ढूँढने निकल पड़ता है। उसकी पत्नी उसे मुर्शिदाबाद से पांच कोस दूर नवाब के एक बाग में मिलती है। नरसिंह उसे मुक्त करने का आश्वासन देकर चला आता है और उपन्यास अपूर्ण ही रह जाता है।

कथानक के इस छोटे से अंश से अनुमान लगाना कठिन है कि लेखक का अभिप्रेत क्या था। संभवतः लेखक 'आर्म्स एक्ट' जारी कर दिये जाने के कारण डाकुओं के आतंक की वृद्धि को बतलाना चाहता था।

'एक मनोरंजक उपन्यास' 'भाग्य की परख', किन्ही म० प्र० नामक लेखक ने लिखा है[4] जिसमें रमनलाल, मायावती तथा एक बुढ़िया की कथा है। उपन्यास के

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1895, पृ0 45-47

2- ''जिस सर्वनाशी ऐक्ट ने भारतभूमि को निर्वीर्य कर डाला मरदानगी और पुरुषत्व का चर्चा लोप हो गया, तोप बुन्दूक तलवार बरछी का चलाना जिनके लिए सपने के ख्याल हो गए... ।'' - वही, पृ0 45-47

3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1895, पृ0 45-47

4- हिन्दी प्रदीप, जुलाई- अगस्त 1895, पृ0 26

मुख्य पात्र मायावती और रमनलाल शहर से गृहस्थी का सामान लेकर गाँव की ओर लौट रहे हैं । रास्ते में उन्हें मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ एक बूढ़ा मिलता है जिसे कर्त्तव्य सेवा-सुश्रूषा की भावना से प्रेरित होकर वे घर ले आते हैं । उपन्यास यहीं तक उपलब्ध है अतः इसका अंत किस प्रकार होता , यह कहना कठिन है ।

इस उपन्यास में चार पात्र आए हैं - रमनलाल, मायावती, मायावती के पिता मदनलाल तथा बूढ़ा । लेखक ने मायावती तथा रमनलाल का चरित्र-चित्रण जहाँ तत्सम बहुल आलंकारिक शैली में किया है, वहीं मदनलाल तथा बूढ़े का चरित्र-चित्रण यथार्थ के अधिक निकट है और भाषा बोलचाल की है, '' यह बूढ़ा बड़ा गरीब तथा कपड़े जो वह पहिने था अत्यंत जीर्ण और मैले थे सिर और दाढ़ी के बाल बिल्कुल बिखरी थे चेहरा भी बदसूरत और मुर्दनी छाई थी... ।''[1]

इस काल में लिखे गए अधिकांश उपन्यासों की शैली कादम्बरी की तरह अलंकृत है तथा उनमें नीति वाक्यों के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति भी मिलती है । किन्तु 'हिन्दी प्रदीप' में बाबू सूर्यकुमार वर्मा का 'सुन्दरी'[2] जैसा उपन्यास भी प्रकाशित हुआ जो इन प्रवृत्तियों से मुक्त है तथा यह उपन्यास अन्य कई दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण है ।

'सुन्दरी' उपन्यास में बाल-विवाह तथा स्त्रीशिक्षा की समस्या को उठाया गया है । इस उपन्यास को लेखक ने दृश्यवर्णन अथवा चरित्र-वर्णन से शुरू नहीं किया है बल्कि इसका आरम्भ माँ और बेटी के परस्पर संवाद के माध्यम से हुआ है, '' मुझे योग्य सुन्दर सा दूल्हा मिले मेरी यही इच्छा है । मैं तेरा ब्याह हो जाने पर दुःख से छूटूँ... बेटी तेरे ब्याह के सिवाय अब मुझे और कुछ चिन्ता नहीं ।''[3]

इस उपन्यास में कथानक तथा चरित्र - चित्रण दोनों का विकास ब्यादातर संवादों के माध्यम से हुआ है । अतः कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अति-अल्प उपन्यासों में संवादों का भरपूर प्रयोग होने लगा था ।

1- हिन्दी प्रदीप, जुलाई - अगस्त 1895, पृ0 26

2- हिन्दी प्रदीप, मई - अगस्त 1903, पृ0

3- वही, पृ0 10

'सुन्दरी' उपन्यास में सुन्दरी तथा कृष्ण कुमार के परस्पर प्रेम तथा अंत में सफल दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने की कथा है। उपन्यास की नायिका सुन्दरी एक बौद्धिक युवती के रूप में सामने आती है, जो जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय भावुकता में नहीं लेती, उसे तर्क की कसौटी पर कसती है,[1] फिर किसी निर्णय पर पहुँचती है। एक पात्र के रूप में सुन्दरी पाठकों पर गहरा प्रभाव छोड़ती है।

इस उपन्यास की भाषा बोलचाल के अधिक निकट है। इसमें लेखक ने शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया है। भाषा का साफ-सुथरा रूप इस उपन्यास की खास विशेषता है।

इनके अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' में परसन,[2] पं० रामप्रसाद तिवारी[3] तथा चन्द्रलाल उपनाम सुधाकर कवि[4] के उपन्यास भी प्रकाशित हुए।

उपर्युक्त कुछ लेखकों के उपन्यासों के अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' में पं० बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास भी प्रकाशित हुए जो कुछ ज्यादा प्रौढ़ हैं क्योंकि भट्ट जी के उपन्यासों में समाज जिस तरह विश्लेषित हुआ है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भट्ट जी द्वारा लिखे गए अधिकांश उपन्यास अपूर्ण हैं तथापि हिन्दी उपन्यास विधा के विकास की दृष्टि से उनके महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

'रहस्यकथा उपन्यास'[5] भट्ट जी का पहला मौलिक किन्तु अपूर्ण उपन्यास है, जो अवध के सोनपुर के जागीरदार वृषभानुसिंह के दो पुत्रों, – तिलकधारी तथा धनुषधारी

1- ''सुन्दरी बहुत देर तक सोचती खड़ी रही फिर बड़े गम्भीर भाव से उसने कहा – डाक्टर साहब मैं ब्याह करने को राजी हूँ परन्तु मुझे सुखी रखने के लिए क्या तुम्हारे पास पूरा सामान है... जब तक आप पूरे साधन इकट्ठा न कर लें तब तक मैं अपने खर्च का भार आप पर डाल आपको और अधिक संकट में नहीं डालना चाहती .... ।'' – हिन्दी प्रदीप, मई-अगस्त 1903, पृ० 20

2- 'परसन ठग उपन्यास', 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल 1889

3- 'दुख दर्पण उपन्यास', 'हिन्दी प्रदीप', अक्तूबर-दिसम्बर 1889, पृ० 16-17

4- 'दुखीता सौदामिनी' तथा 'दारिद्र्य और अपमान' शीर्षक दो उपन्यास, हिन्दी प्रदीप, मार्च 1906

5- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1879, पृ० 6-12

के चरित्र पर आधारित है । तिलकधारी का चरित्र एक शान्त, गंभीर, अध्ययन शील तथा सच्चरित्र पुरुष का है । धनुषधारी इसके विपरीत दुष्ट, आवारा, चरित्रहीन युवक के रूप में चित्रित किया गया है । धनुषधारी धन के लोभ में बाल-विधवा प्रमदा से मिलकर अपने भाई तिलकधारी तथा भाभी गुनवती को घर से निकाल देता है और चाचा भानुमान सिंह की हत्या कर देता है । बाल-विधवा प्रमदा धनुषधारी को अपने जाल में फंसा कर स्वयं बैठती रहती है । उपन्यास की कथा यहीं तक मिलती है ।

चरित्रप्रधान 'रहस्यकथा उपन्यास' समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है । इस उपन्यास में भट्ट जी ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों यथा - बाल-विवाह, विधवा विवाह, वेश्यावृत्ति की समस्याओं तथा धनिकवर्ग में प्रचलित बुराइयों का यथार्थ चित्रण किया है । चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है ।

'गुप्तवैरी'[1] तथा 'उचित दक्षिणा'[2] भट्ट जी के सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास हैं । दोनों ही उपन्यास अपूर्ण हैं । 'गुप्तवैरी' उपन्यास में गोसाइयों की धूर्तता तथा पाखण्ड का चित्रण यथार्थ धरातल पर हुआ है । इस उपन्यास में जमींदार शिव-प्रसाद सिंह के योगनाथ नामक गोसाईं की बातों में आकर जान-माल से हाथ धो बैठने की कथा है ।

'उचित दक्षिणा' उपन्यास की कथा समाज के प्रतिष्ठित वकील वर्ग पर आधारित है । अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वकील गजानन राय इस उपन्यास के मुख्य चरित्र हैं ।

'हिन्दी प्रदीप' के फरवरी 1886 से भट्ट जी का 'नूतन ब्रह्मचारी' छपना शुरू हुआ, जिसे उन्होंने स्वयं 'एक सहृदय के हृदय का विकास' कहा है ।[3]

'नूतन ब्रह्मचारी' समाज सुधार की भावना से प्रेरित उपन्यास है, जिसका उद्देश्य यह बताना है कि चरित्रवान व्यक्ति का संसर्ग दुश्चरित्र व्यक्ति को भी चरित्रवान

1- हिन्दी प्रदीप, मई 1882, पृ0 6-14

2- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1884, पृ0 1-10

3- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1886, पृ0 11-18

बना देता है, "... चरित्रवान के चरित्र का ऐसा ही प्रतिमल है जिसके शरीर की विद्युत दुष्ट से दुष्ट चरित्र को चरित्रवान कर देती है । पाठक ! हम आशा करते हैं कि आप भी इस नूतन ब्रह्मचारी का चरित्र पढ़ चरित्र में विनायक के सहचारी होंगे।"[1] जाहिर है कि 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास के द्वारा भट्ट जी युवा समाज का चरित्र निर्माण करना चाहते थे ।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास का कथानक दो भागों में बँटा हुआ है । एक घटना 15 वर्ष पहले की है तथा दूसरी घटना 15 वर्ष बाद की । उपन्यास के पहले भाग में बालक विनायक राव का चित्रण है । विट्ठल राव तथा राधाबाई की अनुपस्थिति में डाकुओं का एक गिरोह उनके घर को लूटने आता है किन्तु विनायक राव के सरल व्यवहार, भोली मुस्कुराहट तथा मधुर बातों से मुग्ध होकर डाकुओं का सरदार घर लूटने का विचार त्याग देता है तथा अपने दल के साथ वापस चला जाता है ।

15 वर्ष बाद की घटना में युवक विनायक राव का चित्रण है । इस बार डाकुओं के हमले से जमींदार परिवार का अभाव विनायक राव के कारण ही होता है क्योंकि डाकुओं का वही सरदार विनायक को पहचानकर अपने साथियों के मनसूबे उसे बता देता है । इस बार मुठभेड़ में वे दोनों डाकू मारे जाते हैं जो पहली बार सरदार के साथ विनायक का घर लूटने आते हैं ।

देशकाल की सीमा में बँधा हुआ यह उपन्यास चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मनोवैज्ञानिकता लिए हुए है । इस उपन्यास की सर्वश्रेष्ठ विशेषता भट्ट जी द्वारा बालक विनायक राव का स्वाभाविक तथा सुन्दर चित्रण में है, "यह कौन नहीं जानता कि लड़कों को अपना गौरव प्रकट करने में एक प्रकार का चस्का होता है... कोठरी में घुसने पर डाकू अपने मतलब की चीजें देखते रहे । विनायक ने दो बड़े मिट्टी के खिलौने उठा लिए क्योंकि उसकी माँ का कहना था कि हनुमान जी की मूर्ति तो बल वृद्धि करती है और दूसरी गाय की मूर्ति उसके विवाह करने में सहायक होगी ।"[2]

1- पं० बालकृष्ण भट्ट, नूतन ब्रह्मचारी, पृ० 47

2- बालकृष्ण भट्ट, नूतन ब्रह्मचारी, पृ० 32

इस उपन्यास में संवाद बहुत कम है, पर जो भी है वे पात्रानुकूल, स्वाभाविक, मार्मिक एवं संक्षिप्त होने के साथ ही कथानक के विकास में सहायक हैं ।

निष्कर्ष रूप में 'नूतन ब्रह्मचारी' एक चरित्र प्रधान उपन्यास है जिसमें विनायक के प्रभाव से डाकू का हृदय - परिवर्तन कराना लेखक का अभीष्ट है ।

भट्ट जी के ही 'सद्भाव का अभाव' शीर्षक उपन्यास का प्रकाशन 'हिन्दी-प्रदीप' में फरवरी 1889 में हुआ । यह उपन्यास अपूर्ण है, जिसमें भट्ट जी ने उच्चवर्ग के दोहरे चरित्र, पाखण्ड और आडम्बर के साथ ही, वेश्यावृत्ति, बाल-विवाह जैसी समाज की ज्वलंत समस्याओं का चित्रण भी किया है ।

'सौ अजान एक सुजान'[1] भट्ट जी का एक अन्य पूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास भी सामाजिक समस्यामूलक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास है, जिसमें कुसंगति में पड़कर रईसों के बिगड़ने तथा सच्चरित मित्र के परिश्रम से पुनः सुधरने की कथा का वर्णन किया गया है ।

ऋद्धिनाथ तथा सिद्धिनाथ, जो अवध प्रान्त के सेठ हीराचंद के पौत्र हैं, वे नंददास, बुद्धदास तथा वसंता आदि बुरे व्यक्तियों की संगति में पड़कर भ्रष्ट हो जाते हैं । दोनों भाई भोग-विलास, द्यूत तथा सुरापान में रात-दिन व्यस्त रहते हैं । उन्हें वसंता तथा नंददास आदि पात्रों की झूठी प्रशंसा ही प्रसन्नता देती है । ऋद्धिनाथ और सिद्धिनाथ का मित्र चंदू (चन्द्रशेखर) अंत में पुलिस के हाथों उनकी रक्षा करता है तथा दोनों सज्जन मित्र चंदू के कारण सही रास्ते पर आ जाते हैं ।

वास्तव में इस उपन्यास का उद्देश्य असत्य पर सत्य की विजय दिखलाना तथा अनजान लोगों का पथ-निर्देश कराना था, "आप लोगों में यदि कोई अबोध अनजान हो तो, हमारे इस उपन्यास को पढ़कर सुजान बने । इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चंदू था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा ।"[2]

भट्ट जी ने अपने अन्य उपन्यासों की तरह इस उपन्यास को भी देशकाल की सीमा में मजबूती तक बांधा है । पृष्ठभूमि निर्माण के लिए उन्होंने अवध का भौगोलिक वर्णन किया है । इस उपन्यास में कथावस्तु का गठन यथार्थ की भूमि पर स्वाभाविकता

1- हिन्दी प्रदीप, जुलाई - अगस्त 1890, पृ0 29

2- बालकृष्ण भट्ट, सौ अजान एक सुजान, पृ0 139

के साथ हुआ है, '' ग्रीष्म की ऋतु है । जेठ का महीना है । दोपहर का समय है सब ओर सन्नाटा का रण है... प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ घर - घर सब लोग भोजन के उपरांत विश्राम सुख का अनुभव कर रहे हैं, नींद आ जाने पर पंखा हाथ से छूट गया है खुर्राटे भरने लगे हैं । स्त्रियाँ गृहस्थी के काम काज से छुटकारा पाय दूध-मुँहे बालकों को खेला रही हैं.... कोई कोई बड़ी जगौतिन गृहस्थी का सब काम शेष रीति देख जेठ के दीर्घ दोपहर की ऊब दूर करने को सूप की पटकार से अपने पड़ोसी के विश्राम में विक्षेप डाल रही है... ।''[1] डा० रामविलास शर्मा ने उपन्यास के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करते हुए लिखा है कि, '' यथार्थ चित्रण की ओर इसमें अपनी झुकाव दिखाई देता है । यह उस युग नाटकों के प्रभाव के कारण है ।''[2]

इस उपन्यास में भट्ट जी ने शब्दचित्र का आधार ग्रहण कर पात्रों को सजीव बनाने किया है, ''उसी नगर में एक महापुरुष विद्वान रहते थे । दूर-दूर देश के छात्र और विद्यार्थी इनके स्थान पर पढ़ने के लिए टिके रहते थे इनका नाम शिरोमणि मिश्र था .... अध्यापकी के काम में दूर-दूर तक बालाधरी के नाम से प्रसिद्ध थे, अर्थात् बाला अक्षर मात्र शास्त्र का कैसा ही दुरूह और कठिन कोई ग्रंथ होता, उसे यह पढ़ा देते थे ... स्वभाव के अत्यंत गंभीर और देखने में साक्षात् गणेश की मूर्ति मालूम होते थे । इनका चौड़ा ललाट और दमकती हुई मुख की द्युति दामिनी की दमक के समान देखने वाले के नेत्र को मानों चकाचौंध सी उपजाती थी... ।''[3]

इस उपन्यास की भाषा पात्रानुकूल है । भाषा विषयानुरूप कहीं संस्कृतनिष्ठ और अलंकृत तो कहीं बोलचाल का पुट लिये हुए है । डा० रामविलास शर्मा ने उपन्यास के भाषा वैशिष्ट्य को लक्ष्य करते हुए लिखा है कि, '' भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गई है । नौकर, दाई, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में, पढ़े लिखे बाबू की भाषा में अँग्रेजी का भी पुट रहता है, ''मैं आप लोगों के प्रयोजन को संक्षिप्त करता हूँ। ''[4]

1- पं० बालकृष्ण भट्ट, सौ अजान एक सुजान, पृ० 31-32
2- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु - युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ०94-95
3- बालकृष्ण भट्ट, सौ अजान एक सुजान, पृ० 17-18
4- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ० 95

भट्ट जी ने 'हमारी घड़ी'[1] तथा 'रसातल यात्रा'[2] जैसे उपन्यासों के माध्यम से हिन्दी उपन्यास विधा में आत्मकथात्मक शैली के उपन्यासों की शुरुआत की।

'हमारी घड़ी' उपन्यास में स्वयं एक घड़ी अपना निजवृत्तांत सुनाती है। इस उपन्यास में भट्ट जी ने घड़ी की कथा तो कही ही है, साथ ही उसके खरीदे जाने से लेकर ग्राहक द्वारा अपने पुत्र को भेंट दिए जाने तक की घटना का सविस्तार मनोरंजक चित्रण किया है। घड़ियों में भी भट्ट जी ने परस्पर रागद्वेष का भाव दिखलाया है, ''दुकान का मालिक बड़े आवभगत आदर और नम्रता के साथ उसे उसी अलमारी के पास ले आया जहाँ मैं रखी थी... सच पूछिये तो मैं अपनी सहेलियों में छोटी थी अर्थात् बिल्कुल नई थी -- मेरी सजावट और सुन्दरापे पर स्पर्धा से सहेलियों में से कोई बोल भी उठी -- मालूम होता है कि अब की बार यही बाजी मार ले जायगी... ।''[3]

घड़ी जैसी बेजान वस्तु को उपन्यास का चरित्र बनाते हुए भट्ट जी ने उपन्यास लेखन की नई शैली का सूत्रपात किया।

'हमारी घड़ी' उपन्यास की ही तरह 'रसातल यात्रा' उपन्यास भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इस उपन्यास में घड़ी जैसी बेजानवस्तु अपना वृत्तांत नहीं सुनाती बल्कि 'एकलिंग' नामक पात्र अपनी कथा स्वयं सुनाता है। भट्ट जी ने उपन्यास के आरम्भ में ही इस तथ्य को स्पष्ट किया है, ''पहले इसके कि इसको आरंभ करें इतना कह देना और भी उचित है कि इसका मुख्य नायक एकलिंग नामक एक पुरुष है -- जो अपना वृत्तांत आप कह रहा है।''[4]

यह 'रसातल यात्रा' शीर्षक उपन्यास चरित्रप्रधान मनोरंजक उपन्यास है। इसमें भट्ट जी ने दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर का चरित्र इस प्रकार उभारा है, '' इस यह समय मानों सूखी लकड़ी सा दुबला पतला गोरे चमड़े का शहतीर सा लम्बा मजबूत काठी

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1892, पृ0 19

2- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1892, पृ0 38-39

3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1892, पृ0 20

4- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1892, पृ0 41

का एक आदमी आपकी आंख के सामने खड़ा है... उनकी आंखें बड़ी बड़ी और सदा घूमा करती थी नाक लम्बी थी और चश्मा सदा लगाये रहती थी... उनकी चांद में बाल एक भी न था जब सिर से टोपी उतार थे कुरसी पर बैठते थे उस समय उनकी नंगी चांद देख यही भ्रम होता है कि गोल चपाली पर किसी ने चांदी का वरक चिपका दिया हो.... ।"[1]

कहना न होगा कि आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए उपर्युक्त दोनों उपन्यास हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नया मोड़ उपस्थित करते हैं ।

हिन्दी में उपन्यास-लेखन की इस नई विधा को प्रोत्साहन देने के लिए स्वयं भट्ट जी ने तो उपन्यास लिखे ही अन्य लेखकों को भी उपन्यास लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जिनके उपन्यास 'हिन्दी प्रदीप' में छापे गए । इससे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस ओर अवश्य ध्यान दिया था । उन्होंने 'चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश' तथा 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' जैसे उपन्यास लिखने का प्रयास किया था किन्तु अकाल मृत्यु के कारण वे उसे पूरा न कर सके । इस काल में आलोचना के विकास के समान ही 'हिन्दी प्रदीप' मे काफी मात्रा में उपन्यास प्रकाशित कर हिन्दी उपन्यास के आरंभ तथा विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई ।

भारतेन्दु - युग में जिस तरह पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा साहित्य की अन्य विधाओं का विकास हुआ उसी तरह आधुनिक नाटक का विकास भी इसी युग की देन है । आधुनिक काल से पूर्व संस्कृत नाटकों की परम्परा तो मिलती है किन्तु खड़ीबोली हिन्दी में नाटक तथा प्रहसन लिखने की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया । इससे पूर्व 'आनन्दरघुनंदन' (लेखक महाराजा विश्वनाथ सिंह) तथा नहुष (लेखक बाबू गोपालचन्द्र) नाटक ब्रजभाषा में लिखे गए थे ।

भारतेन्दु - युग पुनर्जागरण का काल था । उस समय जन-साधारण में नवीन चेतना के प्रचार-प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण साधन नाटक था क्योंकि वह रंगमंच के माध्यम से जन-साधारण से सीधा जुड़ा था । यही कारण है कि उस युग के पत्र-पत्रिकाओं में मौलिक तथा अनूदित नाटक काफी मात्रा में प्रकाशित हुए । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो आधुनिक गद्य-साहित्य की परंपरा का प्रवर्त्तन ही नाटकों से मानते हैं ।[2]

1- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल से जून 1892, पृ0 4।

2- डा0 रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 308

उस युग के प्रतिनिधि पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित प्रहसन तथा नाटकों की संख्या भी कम नहीं है । उसमें भट्ट जी के साथ ही अन्य लेखकों के भी राजनैतिक, सामाजिक तथा पौराणिक विषयों से संबंधित मौलिक नाटकों एवं प्रहसनों के साथ ही कुछ अनूदित नाटक प्रकाशित हुए ।

'उस युग में तत्कालीन राजनीतिक समस्या को मुद्दा बनाकर काफी प्रहसन लिखे गए जिसमें अंग्रेजों की शोषण नीति तथा देश की तत्कालीन दशा का यथार्थ चित्रण व्यंग्यपूर्ण शैली में किया गया है । 'इंग्लैण्डेश्वरी तथा भारतजननी'[1] भट्ट जी का एक छोटा सा प्रहसन है जिसमें संवादों के माध्यम से 'पै धन विदेश चलि जात' तथा उसके कारण भारत की दीन-हीन दशा का सरल और स्वाभाविक भाषा में मार्मिक चित्रण किया गया है ।

भट्ट जी के 'दो दूर देशी'[2] प्रहसन का आधार अंग्रेजों की रंगभेद की नीति है । इसमें दो देशों का प्रतिनिधित्व दो पात्र - एक हिन्दुस्तानी और एक अंग्रेज करते हैं । इस प्रहसन में महारानी विक्टोरिया द्वारा घोषित 'समानता की नीति' पर चुटीला व्यंग्य करते हुए हिन्दुस्तानी पात्र, अंग्रेज पात्र से कहता है कि, ''... यह तो तुम्हारी ही तालीम है कि हम सब भाई हैं, क्या भया जो देह के रंग और मजहब में फरक हो गया है और हमारा तुम्हारा दूसरा नाता तो यह जुड़ गया है कि हम तुम दोनों एक ही राजा की प्रजा हैं ।''[3]

'हिन्दुस्तान और अफगानिस्तान' शीर्षक प्रहसन 'हिन्दी प्रदीप' के जनवरी 1879 के अंक में प्रकाशित हुआ । इस प्रहसन में भट्ट जी ने तत्कालीन हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी भेदभाव पर प्रकाश डाला है तथा उसे देश की पराधीनता का मुख्य कारण बताया । इसमें अफगानिस्तान ने एक पात्र के रूप में हिन्दुओं में निहित हिन्दूपन की भावना पर व्यंग्य तथा अंग्रेजों की साम्राज्यवादी विस्तारनीति का पर्दाफाश किया है,

---

1- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1878, पृ0 7-10

2- हिन्दी प्रदीप, मई 1878, पृ0 3-4

3- वही, पृ0 3-4

'' या खुदा अभी तक तुममें से मान अपमान की बू नहीं गई... खाक पड़े तुम्हारी अक्लि में, तुम इतना भी नहीं समझते – हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के जहाँ दो ताज है, उसमें हमारा अफगानिस्तान का ताज भी मिला चाहता है।''[1]

इस प्रहसन की भाषा देशकाल तथा पात्रानुकूल है। अफगानिस्तान का हिन्दुस्तान को, '' आलेकुम सलाम मियाँ हिन्दी ''सम्बोधन इसका प्रमाण है।

भट्ट जी के 'रोगी और वैद्य' शीर्षक प्रहसन का प्रकाशन 'हिन्दी प्रदीप' में मार्च 1879 में हुआ। भट्ट जी के अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित, हरदेव-प्रसाद का ''हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के सयाने सन्तान''[2] शीर्षक रूपक तथा महादेव भट्ट जी 'सूरत की बेडौल सूरत'[3] आदि नाटक भी उल्लेखनीय हैं।

'हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के सयाने संतान' रूपक में तत्कालीन राजनीतिक समस्या को कथानक का आधार बनाया गया है। इसमें बताया गया है कि अंग्रेजों ने लंकाशायर के कपड़ा मिल – मालिकों के फायदे के लिए ही विदेश से भारत आने वाले कपड़ों पर से कर हटा लिया था। उन्होंने भारत से विदेश जाने वाले कपड़ों पर भारी महसूल लगा दिया था, जिससे भारत का विदेश व्यापार तो चौपट हो ही रहा था, भारत के कपड़ा उद्योग को भी हानि पहुँच रही थी। इस रूपक में हिन्दुस्तान एक पात्र के रूप में, दूसरे पात्र इंग्लैंड से कहता है कि बम्बई में बने जिस कपड़े पर भारी कर लगा दिया गया है उसे हटा दे, साथ ही भारत में रखी गई फौजों को कम कर दे, मदिरा पर टैक्स बढ़ा दे तथा सरकारी नौकरी पर भारतीयों को रखा जाय। किन्तु 'इंग्लैंड' का कथन ध्यान देने योग्य है, ''आप जाने रहिये हम अपने लड़कों को अप्रसन्न कर तुम्हारी सी दशा नहीं भुगतना चाहते... मेरा जो वैभव है वह इन्हीं सुयोग्य सन्तानों का किया है.... ।''[4]

1- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1879, पृ0 1

2- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर 1893, पृ0 8-17

3- हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1906, पृ0 16-20

4- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर - दिसम्बर 1893, पृ0 8-17

इस रूपक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा नाटक की तरह पात्र प्रतीकात्मक रूप में चित्रित किये गए हैं। इसमें हिन्दुस्तान, दुर्दैव, इंग्लैण्ड, फिकार, पालिसी, विवेक, फैन आदि सात पात्र हैं। लेकिन 'भारत दुर्दशा' से इस नाटक का सबसे बड़ा अंतर यह है कि वह 'भारत दुर्दशा' की तरह एक निराशा में खत्म नहीं होता। 'भारत दुर्दशा' नाटक में 'भारत भाग्य' कटार भोंक कर मर जाता है,[1] जबकि 'हिन्दुस्तान' और इंगलिस्तान के सयाने संतान' रूपक में 'हिन्दुस्तान' का कथन है कि, ''पुरुषार्थ का भरोसा मुख्य है जिनको अपने निज का कुछ बल है उन का दैव भी सहायक होता है।''[2] निश्चय ही इस कथन में आशा की व्यंजना है, जिस पर उस समय चल रहे भारत के स्वाधीनता संग्राम का प्रभाव है।

'सूरत की बेडौल सूरत' शीर्षक नाटक में लेखक महादेव भट्ट ने यह बताने की कोशिश की है कि तिलक आदि नेताओं का कांग्रेस से मतभेद का कारण कांग्रेस की उदार नीति ही है तथा जनता की सहानुभूति अब तिलक के गरमदल के साथ है। देश-काल की दृष्टि से यह नाटक सूरत में हुए कांग्रेस के अधिवेशन के समय का है।

कांग्रेस द्वारा समय-समय पर प्रशासन में छोटे-छोटे सुधारों को लेकर जो गई माँग तो इस नाटक में पात्र नम्बर एक ने भीख माँगना कहा है, ''अलबत्ता जो ढंग कांग्रेस का अब तक रहा उससे तो गोरे कर्मचारियों की खुशामद के सिवाय देश का वास्तविक भलाई का एक तत्व न निकला। भिक्षा माँगने वाले — भिखारी के भिखारी — भिखारी को किसी ने धनी पात्र होते कभी किसी ने देखा सुना होगा... इसी से तिलक महाराज इसे बदलना चाहते हैं... इसके मन्तव्य और कार्रवाइयाँ स्वराज्य के मूल मंत्र होंगे।''[3]

1- ''... जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ तो बड़ा कृतघ्न हूँ... भारत! मैं तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ। मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता। इसी से कातर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ...। ऐसे अभागे जीवन से ही क्या, बस यह लो (कटार का छाती में आघात और साथ ही जवनिका पतन)।''

—सं0 शिवप्रसाद मिश्र, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-2, पृ0 160-61

2- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर, 1893, पृ0 9-17

3- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1908

इस नाटक में पात्र नम्बर एक तथा पात्र नम्बर दो के साथ ही तिलक, मालवीय, और सुरेन्द्रनाथ आदि पात्र भी आए हैं ।

'सूरत की बेठोल सूरत' नाटक में सही बोली हिन्दी का अपेक्षाकृत व्यवस्थित रूप मिलता है तथा भाषा में एक प्रवाह है ।

'हिन्दी प्रदीप' में पौराणिक नाटक भी काफी संख्या में प्रकाशित हुए हैं जो लगभग सभी भट्ट जी द्वारा लिखे गए हैं । उस युग में पौराणिक कथा को आधार बनाकर नाटक लिखने का कारण यह था कि भारत राजनीतिक दृष्टि से पराधीन था । अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता के कारण भारतवासियों में हीनता की भावना फैली हुई थी, उनमें आस्था और आशा का संचार करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर उस युग में प्रायः सभी लेखकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव से युक्त पौराणिक कथा को लेकर नाटक लिखे ।

'हिन्दी प्रदीप' के अंकों में भट्ट जी के बृहन्नला नाटक'[1] 'सीता वनवास'[2], 'दमयन्ती स्वयंवर'[3], 'मेघनाद वध'[4], 'किरातार्जुनीय'[5], 'शिशुपाल वध'[6], तथा 'पृथु चरित या वेणुसंहार'[7] आदि नाटक प्रकाशित हुए हैं ।

'बृहन्नला नाटक' की कथा का आधार महाभारत का विराटपर्व है जिसमें युधिष्ठिर दुर्योधन से जुए में हार कर अपने भाइयों सहित अज्ञातवास के दौरान महाराज विराट के यहाँ आश्रय लेते हैं । महाराज विराट की अनुपस्थिति में कौरवों के आक्रमण से अर्जुन विराट राज्य की रक्षा करते हैं । अंत में महाराज विराट अपनी कन्या का विवाह अभिमन्यु के साथ कर देते हैं । नाटक का अंत भरतवाक्य से होता है ।

'बृहन्नला नाटक' का वस्तुविन्यास कलात्मक है । इसमें कुल चार अंक हैं जो आठ दृश्यों में बँटे हुए हैं । इस नाटक में आठ पुरुष पात्र तथा चार स्त्री पात्र हैं ।

1- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1881, पृ0 7-11
2- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1882, पृ0 15-20
3- हिन्दी प्रदीप, जुलाई-अगस्त, 1892, पृ0 19-27
4- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर 1894, पृ0 4-8
5- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर-दिसम्बर, 1899, पृ0 16-33
6- हिन्दी प्रदीप, मई से अगस्त, 1903, पृ0 40-52
7- हिन्दी प्रदीप, संवत् 1966, पृ0 24-28

नाटक की भाषा पात्रानुकूल व विषयानुकूल है । उच्चकुल के पात्र जहाँ संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करते हैं, वहीं निम्नवर्ग के पात्रों ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है । इससे नाटक में स्वाभाविकता आ गई है, उसके सौंदर्य में भी वृद्धि हुई है ।

इस नाटक का उद्देश्य भारतीयों में साहस तथा वीरता का भाव जगाना था ।

'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक भट्ट जी के प्रमुख पौराणिक नाटकों में से है । यह नाटक 'हिन्दी प्रदीप' में जुलाई-अगस्त 1892 से प्रकाशित होना शुरू हुआ ।

'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक की कथा नैषध-चरित तथा लोकप्रचलित कथा परंपरा पर आधारित है । इस नाटक में नल दमयन्ती के चित्र-दर्शन से उस पर आसक्त हो जाता है । उधर दमयन्ती भी नल के रूप, गुण तथा स्वभाव की चर्चा सुनकर उससे प्रेम करने लगती है । स्वयंवर में दमयन्ती नल का वरण करती है, जिससे कलिदेवता रुष्ट हो जाते हैं । वे नल अपना राजपाट सब कुछ हार जाता है । नल पर एक- एक कर अनेक कष्ट आते हैं । कष्टों से ऊब कर नल दमयन्ती को जंगल में सोती हुई छोड़कर चला जाता है । कथा के अंत में दमयन्ती के पिता भीम पुनः दूसरे स्वयंवर की घोषणा करते हैं । नल भी वहाँ पहुँचता है और दोनों का मिलन हो जाता है । इस प्रकार भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक सुखान्त है ।

'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक में भट्ट जी ने तत्कालीन युग की सामाजिक - राजनीतिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है । लोभ, दम्भ, मोह, द्वापर, कलि आदि पात्रों की उद्भावना युगीन यथार्थ की समस्याओं के चित्रण लिए ही किया है । इस नाटक में कलि और द्वापर के परस्पर संवाद से अंग्रेजों की शोषण नीति तथा भारत की दीन-हीन दशा का परिचय मिलता है । दम्भ का कथन मुल्लाओं तथा पण्डितों के दोहरे चरित्र पर प्रकाश डालता है, "... रात को अपने माशूक के साथ कीमती शराब मन मानता छक आज इस कोठे पर कल उस कोठे पर रात काटा, सबेरा होते ही गंगास्नान कर तिलक मुद्रा रमाय हम सर्वश हैं, हमने यज्ञ की दीक्षा लिया है, हम वाजपेयी हैं, हम अग्निहोत्री हैं, दूसरों को आचार सिखलाने में हम उदाहरण हैं -- हमारे सदृश ब्रह्मज्ञानी दूसरा कौन होगा इत्यादि... ।"[1]

1- पं0 बालकृष्ण भट्ट, दमयन्ती स्वयंवर, पृ0 45

'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक में पात्रों का बाहुल्य है। कुल मिलाकर इस नाटक में छत्तीस पात्र हैं। दमयन्ती तथा नल का चरित्र चित्रण भट्ट जी ने भारतीय आदर्शों के अनुकूल किया है। किन्तु संवाद की दृष्टि से नाटक कमजोर है। इसके सम्वाद लम्बे-लम्बे और अप्रासंगिक हैं जिससे नाटक में नीरसता आ गई है। नाटक में नैषध चरित्त से उद्धृत श्लोकों की अधिकता से कथा प्रवाह में बाधा पहुंची है और स्वाभाविकता की भी हानि हुई है। लेकिन भाषा का प्रयोग सर्वत्र पात्रानुकूल है। नल, दमयन्ती, सरस्वती, इन्द्र आदि पात्रों की भाषा जहाँ संस्कृतनिष्ठ है वहीं सौदागर आदि साधारण पात्रों की भाषा साधारण बोलचाल की है जो लोक भाषा का पुट लिए हुए है। इस नाटक के आठवें अंक में सौदागरों के परस्पर बातचीत में इस भाषा का प्रयोग हुआ है, '' का हो पितई, ननकू, रमई भाय। अब तुम सबन की का राय है? अपने सौदागरी का सब माल अब यहीं उतारा चाहत हो कि कोई दूसरे शहर मा चलें। भाई, समझ लेव माल का परता इहाँ लग सकता है कि नहीं... जहाँ तक हम हिसाब लगाते हैं हमारे पास जो जिन्स है उसका परता इहाँ नहीं लगता।''[1]

'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक का मुख्य उद्देश्य भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करना है। नाटक के अंत में भीम का यह कथन इसका प्रमाण है, '' धन्य है, तेरा सौभाग्य। तूने अपने सतीत्व के प्रताप से अपना खोया हुआ प्राणधन पुनः पाया। जाओ। अब पति के साथ सुखपूर्वक दिन बिताओ।''[2]

पौराणिक नाटकों के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं से संबंधित नाटक और प्रहसन भी प्रकाशित हुए, जिनमें समाज में प्रचलित कुरीतियों और उसके दुष्परिणामों को बताने के साथ ही अंग्रेजों के पिट्ठू, राजभक्त लोगों तथा कंजूसों पर तीव्र व्यंग्य किया गया है।

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित भट्ट जी के सामाजिक प्रहसन तथा नाटक इस प्रकार हैं — 'शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम',[3] 'नई रोशनी का विष,'[4]

1- पं0 बालकृष्ण भट्ट, दमयन्ती स्वयंवर, पृ0 57-58

2- वही, पृ0 74

3- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1878, पृ0 4-7

4- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1884, पृ0 7

'पतित पंचम',[1] 'आचार विडम्बन'[2], तथा 'कट्टरसूम की एक नकल'[3] आदि ।

तत्कालीन सामाजिक समस्याओं से संबंधित इन नाटकों तथा प्रहसनों का मूल स्वर सुधारात्मक है । 'शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम'[4] शीर्षक प्रहसन विषय-वस्तु की दृष्टि से आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है । इस प्रहसन में रसिक लाल का अपनी पत्नी को छोड़कर वेश्या मोहिनी में रत रहने की कथा कही गयी है । अंत में वेश्या मोहिनी के कटुवचनों से आहत होकर रसिकलाल की आँख खुलती है और वह अपनी पत्नी के पास लौट आता है ।

शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम' प्रहसन के द्वारा भट्ट जी ने वेश्यावृत्ति की समस्या पर तो प्रकाश डाला ही है, साथ ही इसमें उन नारियों की मनोभावनाओं का स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण किया है जिनके पति वेश्याओं में रत रहते हैं । तत्कालीन समाज में नारी की असहाय अवस्था का चित्रण करते हुए मालती कहती है कि, '' नारी के समान घिनौना जन्म किसी का न होगा, जिसने पूर्वले में बड़े 2 पाप कर रखे हैं वही स्त्री का जन्म पाते हैं । पराधीन तिस पर भी अनेक यातना ... सूर्यदेव भी जिनका मुख कभी न देखते हों न हवा अंग स्पर्श कर सकती हो वह नारी सती, कुलवती, पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है जो बाहर कभी पांव न रक्खा हो । लिखने पढ़ने से चरित्र बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें लिखना पढ़ना नहीं सिखलाया जाता ।... आठ ही वर्ष से हमें ब्याह देते हैं सो भी बिना देखे भाले, बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट हो जाता है ।''[5]

इस प्रहसन की भाषा पात्रानुकूल, सहज तथा स्वाभाविक है । नाउन पूर्वी भाषा का प्रयोग करती है, '' ई कहि ऐसी बात पूछे में दोखु का है तो फिर और का पूछी ?''[6]

1- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1888, पृ0 14-17
2- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1899, पृ0 10-16
3- हिन्दी प्रदीप, अप्रैल-जून 1895, पृ0 19-25
4- शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम' प्रहसन का प्रकाशन 'हिन्दी प्रदीप' में दो बार हुआ - पहली बार अक्तूबर 1878 में, तथा दूसरी बार अक्तूबर से दिसम्बर 1897 में हुआ ।
5- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1897, पृ0 43-46
6- वही, पृ0 36

'शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम' प्रहसन के उद्देश्यों को भट्ट जी ने अंत में स्पष्ट करते हुए लिखा —

तजि वेश्या - संग - रमन करहिं श्रद्धा निज तिय पर ।
जासों सुधरहिं दशा दीन भारत के सत्वर ।।

'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'बन्दर-सभा'[1] तथा एक अन्य लेखक का 'गुरु और चेला'[2] जैसे प्रहसन भी प्रकाशित हुए ।

मुंशी अमानत खाँ के 'इन्दर सभा' के जवाब में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'बंदर-सभा' प्रहसन की रचना की थी । उन्होंने 'इन्दर सभा' को नाटक न कह कर नाटकाभास माना है, ''इन्दर सभा उरदू में एक प्रकार का नाटक है या नाटकाभास है और यह 'बन्दर सभा' उसका भी आभास है ।''[3]

'गुरु और चेला' शीर्षक व्यंग्य रूपक में प्रहसन में नयी सभ्यता के गुलामों, पोंगा पंडित तथा अकर्मण्य पर व्यंग्य किया गया है । हरिहर, हरिहर जपने वाले भक्तों पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने उनके 'हरिहर' शब्द रटते रहने के रहस्य का उद्घाटन चुटीली शैली में किया है, '' हमारा [illegible] मन मान गया, धन गया, विद्या गई... कौड़ी के तीन तेरह हो रहे हैं दाने तक को मोहताज फिरते हैं कुछ नहीं बचा तो अब हरी 2 दूब चरते हैं बोल हरिहर हुए न । ''[4]

राजनीतिक - सामाजिक समस्याओं तथा पौराणिक कथाओं को आधार बना कर लिखे गए नाटक और प्रहसन तो 'हिन्दी प्रदीप' में छपे ही, साथ ही भारतेन्दु - युग की धारा के अनुकूल अनुदित नाटकों का प्रकाशन भी इस पत्र में हुआ । 'पद्मावती'[5] (ले० बालकृष्ण भट्ट), 'मृच्छकटिक'[6] (ले० गदाधर मालवीय), तथा 'शर्मिष्ठा'[7] (ले० श्री रामचरण शुक्ल) आदि बंगला से अनुदित कुछ अच्छे अनुवाद हैं, जो 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुए ।

1- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1880, पृ0 22-23

2- वही, पृ0 2-3

3- हिन्दी प्रदीप, फरवरी 1880, पृ0 22

4- वही, पृ0 2

5- हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर 1878, पृ0 8-9

6- हिन्दी प्रदीप, मार्च, 1880, पृ0 9

7- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1880, पृ0 9-13

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित गद्य की विभिन्न विधाओं — निबंध, आलोचना, उपन्यास, नाटक आदि के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि इस पत्र में गद्य प्रधानता के साथ प्रकाशित हुआ । 'हिन्दी प्रदीप' की ही नहीं, पूरे भारतेन्दु -युग की यह प्रमुख विशेषता है कि इस युग में गद्य की प्रधानता रही । यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने इस युग को गद्य-युग भी कहा है ।

'हिन्दी प्रदीप' ने गद्य की विभिन्न विधाओं के विकास में ऐतिहासिक भूमिका तो निभाई ही, साथ ही इसमें कविताएँ भी प्रकाशित हुईं जो अधिकतर समसामयिक राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं से जुड़ी हुई हैं । ये कविताएँ अधिकांशतः लोकभाषा में लिखी गई हैं तथा इनमें खड़ीबोली का पुट भी है ।

सम्पादक पं0 बालकृष्ण भट्ट का सामाजिक - राजनैतिक दृष्टिकोण न सिर्फ 'हिन्दी प्रदीप' में छपे गद्य में प्रकट हुआ बल्कि कविताओं में भी उनका वही दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है । भट्ट जी की ज्यादातर कविताएँ राजनैतिक - सामाजिक समस्याओं से जुड़ी हुई हैं जिसमें सामयिकता का स्वर प्रमुख है । ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाए गये टैक्स पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है कि —

" टिक्कस लागत है कस कस के छोड़हु अपना रोजगार ।
टिक्कस लागत आए बादल, पागल सब संसार ।।
देती कजलिया बहु दिन गइले सुख दु हीन अपार ।
ऐसन फिरंगिया टिक्कस लगौलि बिगड़ गयल सब सार ।।"[1]

किन्तु भट्ट जी ने सिर्फ सामयिकता को ही वाणी नहीं दी, बल्कि भारत की मुक्ति के लिए प्रार्थना भी की —

""जय जय करुणाकर माधव अशरण शरण मुरारि ।
पतित हीन गति के तुम प्रभु झटिति उबारी ।।
द्रुपद सुता गज आरति मोचन लखि विभु रीति तिहारी ।
भारत - आरत शरण पुकारत धावहु बेगि खरारी ।।""[2]

1- हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1878, पृ0 8
2- हिन्दी प्रदीप, मई 1878, पृ0 6-7

इनके अतिरिक्त भट्ट जी ने प्रकृति संबंधी कविताएँ भी लिखी हैं। वर्षाऋतु का वर्णन उन्होंने इस तरह किया है --

'' देखो देखो श्याम घटा जुरि आई

दमकहि दामिनी कौंधि चहुँदिसि ते नाना रंग सोहाई ।

सघन छांह में कूजत कोकिल पवन चलत सुखदाई

गुंजत अलिगन मंजुल कंज घन सौरभ की अधिकाई । ''[1]

किन्तु 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ राष्ट्रीय चेतना से जुड़ी हुई हैं। भट्ट जी के अतिरिक्त अन्य कवियों की कविताएँ भी 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुई जिनमें अम्बिकादत्त व्यास,[2] पारसन[3], रवीन्द्रनाथ ठाकुर[4], बंकिमचन्द्र[5], श्रीकान्त पाठक[6], पुरुषोत्तमदास टण्डन[7], लोचन प्रसाद पाण्डेय[8], बृजमोहन कूल[9], माधवप्रसाद शुक्ल[10] आदि प्रमुख हैं।

1- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1878, पृ0 6

2- 'द्रव्य स्तोत्रम्' शीर्षक कविता, हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1882, पृ0 11-14

3- 'बनारसी कजली' (हिन्दी प्रदीप 1883 ई0) 'कान्वि विस्तार का परिणाम क्या होगा' (हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1889) 'कांग्रेस पुकार' (हिन्दी प्रदीप, सितम्बर 1889) 'गप्पाष्टी' (हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर से दिसम्बर 1889) 'प्रश्नोत्तर पचीसी' (अक्तूबर से दिसम्बर 1889)

4- रवीन्द्रनाथ के 'वन्देमातरम्' का पद्यात्मक अनुवाद, हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1905, पृ011

5- (क) बंकिमचन्द्र के 'वन्देमातरम्' का पद्यात्मक अनुवाद, वही, पृ0 10-11
(ख) वन्देमातरम् का पद्यात्मक छायानुवाद' 'हिन्दी प्रदीप', जनवरी 1906, पृ09

6- 'वसंत कविता' (हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1885, पृ0 13-14), 'भारत श्री (प्रवासिनी) (हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1885, पृ0 13), 'भरम' (हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1885, पृ0 14) 'देश सुधार का विचार' (हिन्दी प्रदीप नवम्बर 1905)

7- 'इन्दर सभा महाकाव्य' शीर्षक कविता, हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1905

8- 'रामविनय' (हिन्दी प्रदीप, मई 1906, पृ0 13-15), 'स्वदेशी' (हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1906, पृ0 24)

9- 'मुकदमा, वकील, गवाही, इन्साफ', शीर्षक कविताएँ (हिन्दी प्रदीप, मई-जुलाई 1901) 'टोपी वर्सेस साफा' शीर्षक कविता (हिन्दी प्रदीप, जनवरी-फरवरी 1903, पृ015-18)

10- 'वृद्ध भारत और दीवाली' (हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1907, पृ08-9) 'सामयिक बर्ताव की कुंडलियां (हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1907, पृ0 9-10) 'दिवालियों की दीवाली' (हिन्दी प्रदीप सं0 1966, पृ04) 'बम क्या है' (हिन्दी प्रदीप, अप्रैल 1908, पृ037-38)

'साम्ये विस्तार का परिणाम क्या होगा ? शीर्षक कविता में कवि परसन ने अंग्रेजों द्वारा शहरों के बाह्य सौंदर्य को बढ़ाये जाने किन्तु देश की गरीबी को दूर करने के उपायों की ओर ध्यान न देने वाली नीति पर व्यंग्य किया है —

''घर 2 पीछे टिकस लौगा बंबा गढ़ि दुवार ।
ठिकेदार की हंडिया पकै — रैयत पीय उजार ।।
× × × × ×
बस 2 के महसूल लौगा — होय गरीबन मार ।
निरधन की गति देवै जानि — मिलै न जिन्हैं अहार ।।
देव टिकस नहिं मुस्के कसिहैं भजिहैं कारागार ।
नधुनी बेच के टिक्कस दीनहे बचिहै प्रान तुम्हार ।।''

'ईश्वर से विनय' शीर्षक कविता में श्री छेदीलाल ने जनता की दीन-हीन दशा का वर्णन इस प्रकार किया —

''सब साग अलोना खाय उदर भरते हैं ।
इस घोर शीत में वस्त्रहीन फिरते हैं ।
निशि ताप 2 संताप सहा करते हैं ।
सब तलफ 2 के हैं मौत बाय । मरते हैं ।।''[1]

'हिन्दी प्रदीप' के अप्रैल 1908 के अंक में माधवप्रसाद शुक्ल की 'बम क्या है' शीर्षक कविता प्रकाशित हुई, जिसका स्वर प्रमुखतः राजनीतिक है । इस कविता की तीव्र प्रतिक्रिया ब्रिटिश सरकार पर हुई । उसने सम्पादक बालकृष्ण भट्ट को आगाह किया कि इस प्रकार की राज-विद्रोही कविता अपने पत्र में न छापें तथा 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन भी बंद कर दिया गया । खड़ी बोली में लिखी गई इस 'बम क्या है?' शीर्षक लम्बी कविता के अंत में भारतीयों का शोषण करने वाले अंग्रेज शासकों की तीखी भर्त्सना की गई है —

1- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1908, पृ० 13-14

""जब जब नृप अत्याचार मचा करते हैं।
औ प्रजा दुखी चिल्लाते ही रहते हैं॥
नहिं दीनों की जब कहीं सुनवाई होती।
तब इतिहासों की बात सत्य ही होती॥
""माधव"" कहता, यह क्रिया बुरा करन है।
सोचो यह क्या है जो कहलाता क्रम है॥""

'हिन्दी प्रदीप' का यह उग्र राष्ट्रीय स्वर लगातार संकट झेलते रहने पर भी कभी मंद नहीं हुआ तथा अंत में इसके बंद होने का कारण बना।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतेन्दु - युग में हिन्दी भाषा तथा साहित्य का विकास पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही रहा था। इस काल में विकसित हो रही भाषा के दो स्तर थे — पत्रकारिता की भाषा तथा साहित्य की भाषा। किन्तु हिन्दी पत्रकारिता के इस आरम्भिक काल में इन दोनों भाषाओं के बीच कोई विभाजन रेखा खींचना कठिन है क्यों कि उस युग में जो वरिष्ठ साहित्यकार था वह पत्रकार भी था अर्थात् ये साहित्यकार संपादक दोहरे धर्म का निर्वाह कर रहे थे। अतः यह कहा जा सकता है कि इस काल में भाषा इस रूप में ढाली जा रही थी जिससे एक ओर उसके भीतर से भविष्य में विकसित होने वाली साहित्यिक भाषा रूप ग्रहण करे, तो दूसरी ओर हिन्दी की उच्च पत्रकारिता के लिए परिनिष्ठित भाषा का भी निर्माण हो सके। कहना न होगा कि 'हिन्दी प्रदीप' ने हिन्दी भाषा के विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके आरम्भिक अंकों के सम्पादकीय में जहाँ थोड़ी सी अव्यवस्था पायी जाती है, वहीं बाद के अंकों में प्रकाशित सम्पादकीय की भाषा में एकरूपता, स्थिरता तथा भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता मिलती है।

'हिन्दी प्रदीप' में सन् 1890 से पहले प्रकाशित सम्पादकीय लेखों की भाषा में पुरानापन अधिक है। यह पुरानापन शब्दरूपों, कारक चिन्हों तथा क्रियापदों में दिखलाई पड़ता है। कहीं-कहीं भाषा में पूर्वी तथा ब्रजभाषा के शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। 'हिन्दी प्रदीप' के अक्तूबर 1877 की सम्पादकीय की भाषा इस प्रकार है, 19 जुलाई

के छपे हुए हुकम गवर्नमेंट नम्बर 1894 के देखने से जाना गया कि ये ही हिन्दुस्तानी सर्कारी नौकरी पावेंगे जो अंग्रेजी के साथ फारसी वा उर्दू की परीक्षा में पूरी उतरेंगे... इससे साफ मालूम हो गया कि उर्दू उसी बोली का नाम है जिसमें फारसी अरबी के शब्द बहुत हों... भारतवर्ष की दशा दृष्टि करने से यही अनुमान होता है कि संस्कृत भाषा और उसके विद्वानों की जो दुर्गति हो वह थोड़ी है इस सब का कारण इस बात का है कि जो हिन्दी कई किरोड़ की बोली है... जिसे श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र से कितने सज्जन जन निज कर कमलों से सींच सींच कर बढ़ाया... ।''[1]

किन्तु सन् 1890 के आसपास 'हिन्दी प्रदीप' की भाषा में एकरूपता आने लगती है । इस समय की भाषा में शब्द रूपों के साथ ही वाक्यविन्यास में भी स्थिरता दृष्टिगत होती है । भाषा में संस्कृत से अनूदित तथा लोकभाषा में प्रचलित मुहावरों का प्रयोग होने लगता है जिससे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की वृद्धि होती है । अप्रैल 1887 के अंक में प्रकाशित सम्पादकीय की भाषा में भाषा के इस विकास को सहजही देखा जा सकता है — ''हमारे हित चिन्तक महाशय हमें यह नहीं बतलाते कि किस बुद्धि और वैभव का आश्रय ले हम कितनी योग्यता संपादन करें कि हममें से किसी सुयोग्य पात्र के साथ में भारतवर्ष पुनः प्रत्यर्पण करें... हमारे कितने धन से समुद्र यान बनवा के व्यापार के लिए हमें आप समुद्र यात्रा के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं और रेल आदि के निर्माण में समर्थ करने के हमें विद्या और कला सिखला रहे हैं जैसी यूरोप देश में सिखायी जाती है... पेट पोषण करने वाला विद्या की वृद्धि में भी आप यहाँ तक कृपणता कर रहे हैं कि स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की फीस दूनी तिगनी बढ़ाते जाते हैं तो उस प्रकार की शिक्षा पाने की आशा हम आपसे क्या करें... बड़े लोग होंगे जो आप पर पूरा विश्वास रखते थे डर के मारे मुख से चाहे जैसी लल्लो पत्तो करें पर हृदय में आप पर विश्वास का बंधन बहुतेरों के चित्त में ढीला होता जाता है... ।''[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अति-आधुनिक भाषा में और अधिक विकास मिलता है । इस समय की भाषा में केवल शब्दरूपों में ही नहीं,

---

1- हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1877, पृ० ।

2- सम्पादकीय, हिन्दी प्रदीप, 1887, पृ० 1-3

वाक्यविन्यास में भी स्थिरता दृष्टिगत होती है । ब्रजभाषा तथा पूर्वी शब्दों का प्रयोग क्रमशः कम होता चला जाता है और इसके स्थान पर अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों तथा अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग होने लगता है, "बड़े लोगों और बड़े सर्कारी कर्मचारियों में बहुत से इसे स्वीकार करने लगे हैं कि हिन्दुस्तान बहुत बुरी दशा में आ गया है... सर ए० काटन का मत है कि नहरें अधिक बढ़ाईं जायं तो मुख्य ज़्रियादह जरिया हो यहाँ की पैदावार को बढ़ा दें - पैदावरी बढ़ने से धन देश में अधिक हो जाय सब दरिद्रता जाती रहे - पर इण्डिया गवर्नमेंट के पास इतना रुपया नहीं कि उक्त महाशय के राय की जाँच की जाय ।... रैयत की दरिद्रता दूर होने के लिए एग्रीकल्चरल बैंक खोलना अत्यावश्यक है परन्तु सरकार किफायत के खयाल से नया मुहकमा नहीं खोलना चाहती, हर एक तहसीलियों से जो असामियों को तकावी दी जाती है वही काफी है ।"[1]

भाषा में अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से जहाँ एक ओर 'हिन्दी प्रदीप' की भाषा संबंधी व्यापक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है वहीं दूसरी ओर इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक आते-आते हिन्दी भाषा पर शिक्षित समुदाय का प्रभाव पड़ने लगा था । इस शिक्षित समुदाय में अरबी फारसी जानने वाले तथा नयी अंग्रेजी शिक्षा का संस्कार लेकर आए हुए दोनों प्रकार के लोग शामिल थे । इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी खड़ी बोली का टकसाली रूप धीरे-धीरे विकसित होने लगा, जिसका व्यवस्थित रूप से विकास आगे द्विवेदी युग में हुआ ।

मार्च 1908 के सम्पादकीय के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ तक आते-आते भाषा बोलचाल के और निकट आ गई है । इसमें अरबी-फारसी के भी बोलचाल के शब्दों का प्रयोग होने लगता है । भाषा में एक चुस्ती और प्रवाह मिलता है । मार्च 1908 में 'हिन्दी प्रदीप' की भाषा इस प्रकार है, "इसमें सन्देह नहीं गवर्नमेंट ने बड़ी हिम्मत अमली से हिन्दुस्तान को हस्तगत किया पर आरम्भ ही से चूक होती चली गई । यद्यपि

1- हिन्दी प्रदीप, नवम्बर - दिसम्बर 1900, पृ० 1-4

वह चूक न थी वरन् वह उसी हिकमत अमली का एक हिस्सा था । किन्तु कहावत है मेरे मन कुछ और है कर्त्ता के कुछ और जो कुछ भूल बन पड़ी वह अपने ही फायदे की दृष्टि से । जैसा जब यहाँ सरकारी राज्य स्थापित हुआ तब दफ्तरों में काम करने वाले अल्प वेतन में न मिलते थे गोरे यूरोपियनों को बड़ी तनख्वाह देनी पड़ती थी इसलिए शिक्षा विभाग स्थापित किया गया और थोड़ी तनख्वाह दे बड़े से बड़ा काम यहाँ वालों से निकलने लगा ।...।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल की भाषा में व्याकरणिक नियमों का प्रयोग हुआ है, साथ ही भाषा में एक विशेष सुरुचि और परिमार्जन का पुट मिलता है । द्विवेदी युग ने खड़ी बोली हिन्दी में सुरुचि और परिमार्जन तथा व्याकरण की दृष्टि से एकरूपता लाने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसकी नींव भारतेन्दु युग में 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से डाली जा चुकी थी ।

निष्कर्षतः साहित्य और भाषा के सन्दर्भ में अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्रकारिता के अन्तर्गत 'हिन्दी प्रदीप' का ऐतिहासिक महत्त्व है । 'हिन्दी प्रदीप' ने हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । इसमें जहाँ एक ओर राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक निबंध और कुछ आलोचकों के विचार से गंभीर हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भी इसी पत्र से हुआ । इसमें प्रकाशित उपन्यास, नाटक तथा कविताएँ विधा के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य तथा भाषा के विकास में 'हिन्दी प्रदीप' का योगदान ऐतिहासिक है ।

1- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1908, पृ0 1-3

—

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भिक युग पुनर्जागरण का युग है । इस युग में मध्यकालीन संस्कारों से ग्रस्त भारतीय मानस को सोचने समझने के स्तर पर आधुनिक बनाने का प्रयास चल रहा था । उस समय ब्रिटिश शासन के शोषक रूप से परिचित कराते हुए उनके विरुद्ध जनता में राष्ट्रीय और राजनैतिक चेतना का निर्माण किया जा रहा था । इसके साथ ही साहित्य को भी नई सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जा रहा था । आधुनिक साहित्य के इस विकास के साथ ही भाषा भी विकसित हो रही थी । खड़ी बोली हिन्दी का रूप स्थिर हो रहा था ।

क्योंकि आधुनिक साहित्य का आरम्भिक युग पत्रकारिता का युग था अतः तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने अपने उपर्युक्त कर्त्तव्य का निर्वाह सजगता के साथ किया । इसी युग में हिन्दी भाषा और साहित्य को नई दिशा देने वाला पत्र 'हिन्दी प्रदीप' निकला, जिसके संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट थे । 'हिन्दी प्रदीप' उस युग का प्रतिनिधि मासिक पत्र था जिसमें राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का सर्वांगीण विश्लेषण करते हुए तत्कालीन समाज का विस्तृत विश्लेषण करने का प्रयत्न मिलता है । 'हिन्दी प्रदीप' ने गद्य की प्रमुख विधा निबंध को ही सिर्फ नहीं छापा बल्कि हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए गद्य की तमाम विधाओं को अपने ढंग में छापने की कोशिश की । यहाँ तक कि उस समय साहित्य की कम छपने वाली विधा कविता को भी 'हिन्दी प्रदीप' ने काफी मात्रा में छापा ।

'हिन्दी प्रदीप' सन् 1877 में निकलना शुरू हुआ था । तब से यह अनवरत (तीन बार थोड़े - थोड़े समय के लिए बंद होना छोड़कर) अप्रैल 1910 तक निकलता रहा । इन 33 वर्षों में 'हिन्दी प्रदीप' में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच निर्मित हो रहे आधुनिक साहित्य को प्रकाशित करने का ऐतिहासिक कार्य किया है । समाज और साहित्य के सम्बन्ध तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य

के विकास के अध्ययन की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' में छपी सामग्रियों का अध्ययन आवश्यक था । आरम्भिक युग की अन्य पत्रिकाओं के बीच 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित रचनाओं के अध्ययन का इसलिए भी महत्त्व है क्योंकि इसके संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि प्रगतिशील थी । भट्ट जी का मानना था कि 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है', अतः इस प्रगतिशील साहित्यिक दृष्टि से निकलने वाली आरम्भिक युग की श्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'हिन्दी प्रदीप' का अध्ययन समाज और साहित्य के संबंध सिलसिले में अत्यंत आवश्यक था ।

इस लघु-शोध - प्रबंध के पहले अध्याय का शीर्षक है — हिन्दी पत्रकारिता : पृष्ठ-भूमि तथा विकास । इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस तरह हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का सूत्रपात पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हुआ । साहित्य में रीतिकालीन भाव बोध की अपेक्षा आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति होने लगी ।

अंग्रेजों का सन् 1757 की 'प्लासी' युद्ध की सफलता के साथ ही भारत पर उनके द्वारा अधिकार करने का पहला प्रयास सफल रहा था । उसी समय से अंग्रेजों ने अपने नियंत्रण का उपयोग निजी हितों की सिद्धि के लिए करना शुरू कर दिया था । खेती और उद्योग-धंधों की मिली - जुली अर्थव्यवस्था को नष्टकर अंग्रेजों ने भारत को जबर्दस्ती कल-कारखाने वाली ब्रिटिश पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ उपनिवेश बना दिया ।

अंग्रेजों की शोषण तथा साम्राज्यविस्तार की नीतियों ने भारतीय जन - मानस में एक तरह की निष्क्रियता के साथ असंतोष तथा आक्रोश को जन्म दिया, जो 1857 के जन-विद्रोह का कारण बना । इस विद्रोह में समाज के विभिन्न वर्गों ने बिना किसी भेदभाव के हिस्सा लिया था और राष्ट्रीय एकता का परिचय दिया था ।

सन् 1857 के विद्रोह के बाद भारत के शासन की बागडोर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के हाथ से निकलकर महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गयी । महारानी विक्टोरिया के 'उदार' एवं 'सहृदयतापूर्ण' घोषणापत्र ने भारतीयों के मन में नवीन आशा का संचार किया । उस युग के साहित्यकारों ने इसी पृष्ठभूमि में राज प्रशस्तिपरक

कविताएँ लिखी । किन्तु शीघ्र ही महारानी विक्टोरिया के तथाकथित 'उदार' एवं 'सहृदयतापूर्ण' 'घोषणापत्र' की सच्चाई सामने आ गई । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'भारत दुर्दशा' नाटक लिखकर जनता के उक्त भ्रम को दूर करने की कोशिश की । यही नहीं, उस युग के सभी पत्रों ने ब्रिटिश सरकार के 'जी हजूर' नौकरों की भर्त्सना की तथा जनता को उनसे आगाह करते हुए देशद्रोही राजाओं, पंडे तथा पुरोहितों के विरुद्ध कठोर कारवाई करने के लिए प्रेरित किया ।

जनता में अंग्रेजों की शोषणनीति के विरुद्ध बढ़ती हुई जागरूकता को कुंठित करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का सहारा लिया । अंग्रेजों ने उक्त नीति का उपयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया । भाषा के क्षेत्र में उर्दू को महत्त्व देते हुए हिन्दी का विरोध किया गया । ब्रिटिश सरकार की 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के कारण ही सन् 1907 में कांग्रेस दो गुटों में बँट गई – नरम दल तथा गरम दल । इस परिस्थितियों का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने राजद्रोहात्मक कानून तथा प्रेस एक्ट पारित कर उग्र समझे जाने वाले पत्रों का मुँह बंद कर दिया । 'हिन्दी प्रदीप' इसी प्रेस एक्ट की चपेट में आकर सदा के लिए बंद हो गया ।

भारतीय जनता को यदाकदा खुश करने के उद्देश्य से जहाँ अंग्रेज सरकार एक ओर कुछ रियायतें देती थी वहीं देश में बढ़ती हुई राष्ट्र-प्रेम की भावना को अवरुद्ध करने के लिए दमन का सहारा भी लेती थी । प्रताप नारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम' कविता में उक्त भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

ब्रिटिश सरकार के जन विरोधी कार्यों ने जनता में व्यापक असंतोष को जन्म दिया जिसने 1857 के बाद एक बार फिर व्यापक विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार कर दी । जनता के बढ़ते हुए असंतोष को रोकने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने कुछ भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं को लेकर राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की ।

कांग्रेस ने आरम्भ से ही उदार नीति का अनुसरण किया । वह प्रशासन में छोटे-मोटे सुधारों की ही माँग करती रही । किन्तु ब्रिटिश सरकार इसे भी सहन नहीं कर सकी । उसने कांग्रेस की आलोचना करनी शुरू कर दी जिसका उल्लेख गोखले ने किया था ।

समाज पर पुराने धार्मिक अंध- विश्वासों, रीतिरिवाजों, सामाजिक कुरीतियों— जाति प्रथा, छुआछूत आदि का अब भी दबदबा था । अतः सामाजिक कलुष प्रक्षालन के बिना भारत का एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में विकास असंभव था । उस युग के समाज सुधारकों ने विभिन्न समाजों — 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज', 'राम कृष्ण मिशन', 'आर्य समाज', तथा 'थियासोफिकल सोसायटी' आदि की स्थापना कर भारत में आधुनिक मानसिकता के निर्माण की चेष्टा की ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगियों ने भी हिन्दी साहित्य के माध्यम से सामाजिक कलुष - प्रक्षालन में योग दिया । इन लोगों ने नयी शिक्षा पद्धति की आवश्यकता पर बल देते हुए भी अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की अपूर्णता की ओर संकेत किया ।

इस तरह आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भिक युग की परिस्थितियों में पुनर्जागरण आन्दोलन का काफी महत्व है । क्योंकि उपनिवेश बने हुए हिन्दुस्तान में जिस तरह अंग्रेज अपने शोषण की जंजीरें कस रहे थे, यह जरूरी था कि आत्मविश्वासहीन भारतीयों को स्वर्णिम अतीत की याद दिलाकर उनमें आशा और उत्साह का संचार किया जाए । विभिन्न 'समाजों' के द्वारा यह कार्य लम्बे अर्से तक किया गया । इस परिवेश में तत्कालीन साहित्यकार एवं पत्रकार भी पीछे नहीं थे । उन्होंने भी शोषण की इन परिस्थितियों के बीच कार्य करते हुए जन जीवन को उसके विरोध में खड़ा करने के लिए विभिन्न विधाओं में रचनाएँ की और इस तरह समाज और साहित्य के सार्थक संबंध की शुरुआत की ।

दूसरे अध्याय का शीर्षक है — 'आरम्भिक युग की साहित्यिक पत्रकारिता और हिन्दी प्रदीप' । इस अध्याय में हिन्दी की साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के विवेचन से पूर्व मुद्रणकला के जन्म, भारत में प्रेस की स्थापना, भारत में प्रकाशित होने वाले आरम्भिक समाचार पत्र तथा इसी के साथ उस समय अंग्रेजों द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित किये जाने वाले अन्य पत्रों का विवेचन है । तदुपरांत भारतीय भाषा में निकलने वाला पहला पत्र 'दिग्दर्शन' तथा भारतीयों के सम्पादकत्व तथा संयोजकत्व में प्रकाशित होने वाले प्रथम पत्र 'बंगाल गजट' तथा अन्य पत्रों का उल्लेख किया गया है ।

हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन युगल किशोर के सम्पादकत्व में सन् 1826 में हुआ । उसके कुछ दिनों तक कोई ऐसा उल्लेखनीय पत्र नहीं निकला जो विकास की नई दिशा का संकेत करता हो । सन् 1868 में 'कवि-वचन सुधा' के प्रकाशन के साथ हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का आरम्भ होता है । सन् 1873 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पादकत्व में ही 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' प्रकाशित हुई जिसके साथ 'हिन्दी नई चाल में ढली' तथा इस पत्र ने ही सबसे पहले हिन्दी पत्रकारिता में विषय संबंधी विविधता का समावेश किया । 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के प्रकाशन के बाद कुछ वर्षों तक हिन्दी में किसी उल्लेखनीय पत्र का प्रकाशन नहीं हुआ । किन्तु सन् 1877 का वर्ष हिन्दी पत्रकारिता की दृष्टि से उल्लेखनीय वर्ष है क्यों कि इसी वर्ष पं० बालकृष्ण भट्ट के सम्पादकत्व में इलाहाबाद से 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन हुआ जिसने 33 वर्षों तक अपने अंकों में महत्वपूर्ण पठनीय सामग्रियाँ आपकर हिन्दी साहित्य और भाषा को नई दिशा प्रदान की ।

'हिन्दी प्रदीप' के दीर्घ जीवनकाल में अनेक साहित्यिक पत्र निकले । सन् 1878 में पं० गोदूलाल मिश्र के संपादकत्व में कलकत्ता से पाक्षिक पत्र 'भारत मित्र' निकला । इस पत्र की नीति शुद्ध राष्ट्रीयता की थी । कलकत्ता से ही दो अन्य पत्र 'सार सुधानिधि' (सन् 1879) तथा 'उचितवक्ता' (सन् 1880) क्रमशः पं० सदानंद मिश्र एवं दुर्गाप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुए । इन दोनों पत्रों का स्वर राष्ट्रीय होते हुए भी राजभक्ति का पुट लिए हुए था । उक्त दोनों पत्र कुछ वर्ष ही निकल कर बंद हो गए ।

सन् 1881 में मिर्जापुर से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' के सम्पादकत्व में मासिक पत्र 'आनंदकादम्बिनी' का प्रकाशन हुआ जिसमें साहित्य की अन्य विधायें तो प्रकाशित हुई थीं, 'हिन्दी प्रदीप' के बाद 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत समालोचना भी इसी पत्र में प्रकाशित हुई थी ।

सन् 1883 में पं० प्रताप नारायण मिश्र के संपादकत्व में हास्य - व्यंग्य प्रधान मासिक पत्रिका 'ब्राह्मण' का प्रकाशन कानपुर से हुआ । इस पत्रिका में कविता और निबंध प्रधानता के साथ प्रकाशित हुए । यह पत्र भी दीर्घायु न हो सका ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् 1896 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन किया । यह मूलतः शोध प्रधान पत्रिका थी, जिसमें नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा साहित्य और भाषा के क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों तथा खोजों से संबंधित विषय प्रकाशित होते थे । आज तक प्रकाशित होने वाली, हिन्दी की यह पहली त्रैमासिक पत्रिका है ।

उदारनीति की समर्थक सचित्र मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रयाग से सन् 1900 में एक संपादक मंडल द्वारा हुआ । 'सरस्वती' ने गद्य-पद्य की भाषा में एकरूपता पर बल देते हुए खड़ी बोली हिन्दी का परिष्कार तथा उसका स्वरूप स्थिर करने में महत्वपूर्ण योग दिया । उसने हिन्दी कविता में चली आ रही सामन्ती मूल्यों का बहिष्कार किया तथा आलोचना के समुचित विकास में भी योग दिया ।

आरम्भिक युग की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं के सामान्य विवेचन के पश्चात् इस अध्याय के अंत में 'हिन्दी प्रदीप' का विस्तृत विवेचन किया गया है ।

डा० रामविलास शर्मा ने 'हिन्दी प्रदीप' को साधारण साहित्यिक पत्र न मानकर उसे हिन्दी में क्रान्तिकारी राजनीतिक पत्रकारिता का अग्रदूत कहा है । 'हिन्दी प्रदीप' उस युग का श्रेष्ठ मासिक पत्र था जो एक ही साथ अनेक उद्देश्यों की पूर्ति कर रहा था । इस पत्र ने अपने युग में क्रान्तिकारी काम किया है । उसने सामन्ती मूल्यों का विरोध करते हुए पाठकों में विवेक तथा स्वाधीनता के विचार की प्रतिष्ठा की । 'हिन्दी प्रदीप' ने समाज के नव-निर्माण के लिए प्रेरित तो किया ही, जनता में राष्ट्रीय चेतना जगाते हुए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने की प्रेरणा भी दी है । हिन्दी का प्रचार-प्रसार करते हुए, साहित्य की विविध विधाओं को प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य के भंडार को समृद्ध करने की ऐतिहासिक चेष्टा की है ।

स्वाधीन विचारों का समर्थक, तथा उग्र राजनीतिक विचारधारा को लेकर चलने वाला 'हिन्दी प्रदीप' ब्रिटिश सरकार की आँख का काँटा था । सन् 1908 में माधवप्रसाद शुक्ल की 'बम क्या है?' शीर्षक कविता छापने के 'अपराध' में (अंग्रेजों की दृष्टि में) ब्रिटिश सरकार ने इसका प्रकाशन बंद कर दिया । किन्तु धुन के पक्के, सं० पं० बालकृष्ण भट्ट ने अक्तूबर 1908 में 'हिन्दी प्रदीप' का पुनः प्रकाशन किया किन्तु सन् 1910 में बने प्रेस एक्ट की चपेट में आकर यह पत्र, अप्रैल 1910 में सदा के लिए बंद हो गया ।

तीसरे अध्याय के अंतर्गत 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य तथा भाषा का अध्ययन किया गया है । भारतेन्दु युग में हिन्दी - भाषा एवं साहित्य के विकास के लिए किए गये प्रयासों में 'हिन्दी प्रदीप' ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई तथा जन-जीवन से दूर रीतिकालीन साहित्य के विरुद्ध सामाजिक यथार्थ को वाणी देने की महत्वपूर्ण चेष्टा की ।

'हिन्दी प्रदीप' ने अपने अंकों में साहित्य तथा समाज के घनिष्ठ संबंध को विविध रूपों में प्रतिपादित करने वाले साहित्य की विभिन्न विधाओं को प्रकाशित किया ।

कहना न होगा कि युग की आवश्यकता को देखते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में निबंध प्रमुखता के साथ प्रकाशित हुए । इसमें भी तत्कालीन ज्वलंत सामाजिक - राजनैतिक समस्याओं से संबंधित निबंधों की प्रधानता रही क्योंकि हिन्दी प्रदीप का उद्देश्य सामाजिक कुरूप - प्रकाशन करते हुए समाज के नव-निर्माण की प्रेरणा देने के साथ ही जनता को स्वाधीनता आन्दोलन के लिए तैयार करना था । किन्तु साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक निबंध भी प्रकाशित हुए जिसमें विचारों की उत्तेजना के साथ ही भावनाओं की गहराई भी मिलती है । इस पत्र में भट्ट जी के चन्द्रोदय जैसे उच्चकोटि के ललित निबंध भी प्रकाशित हुए हैं, जिसके आधार पर उन्हें उत्कृष्ट कोटि के निबंध लेखक के साथ 'गद्य काव्य का निर्माता' भी माना गया है । इसके साथ ही इस पत्र में व्यंग्य शैली तथा संवाद शैली और स्वप्न शैली में लिखे गए निबंध भी छपे गए जिनमें कहानी कला के बीज निहित हैं ।

आलोचकों के अनुसार हिन्दी आलोचना के विकास तथा समृद्धि में भी 'हिन्दी प्रदीप' का योगदान सर्वाधिक है । हिन्दी में आधुनिक आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय इसी पत्र को है । 'हिन्दी प्रदीप' में ही सबसे पहले सन् 1878 में 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक की समीक्षा छपी थी तथा 'आनंदकादम्बिनी' से पहले 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत समालोचना इसी पत्र में प्रकाशित हुई थी । जिसका उल्लेख स्वयं 'प्रेमघन' जी ने किया है । व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत एवं गम्भीर आलोचना करते हुए भट्ट जी ने उसमें ऐतिहासिकता

के अभाव की चर्चा की है । संवाद, पात्रों के चरित्र चित्रण आदि पर भी महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं । व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत ही 'हिन्दी प्रदीप' में प्राचीन कवियों की कुछ जीवनी परक समीक्षाएँ भी प्रकाशित हुईं, जिनमें भविष्य में विकसित होने वाली तुलनात्मक समीक्षा के बीज निहित हैं । डा० रामविलास शर्मा के अनुसार भट्ट जी ने तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात 'हिन्दी प्रदीप' द्वारा किया ।

'हिन्दी प्रदीप' में छपे सैद्धान्तिक समीक्षा भी स्तरीय हैं । विशेषकर वह आलोचना जिसे भट्ट जी ने लिखा है । सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत साहित्य का सभ्यता तथा समाज से घनिष्ठ संबंध को रेखांकित करते हुए भट्ट जी ने साहित्य को 'परिवर्तनशील चित्र' का चित्रण माना तथा शास्त्रीय नियमों में बद्ध कविता में नैसर्गिकता के अभाव की शिकायत करते हुए उसे कृत्रिमता के दोष से युक्त कहा ।

'हिन्दी प्रदीप' में सामाजिक समस्याओं तथा नैतिक आशय से युक्त उपन्यास काफी मात्रा में प्रकाशित हुए । समाज सुधार के दृष्टिकोण से लिखे गए अधिकांश उपन्यासों में वर्णनात्मकता मिलती है किन्तु बाबू सूर्य कुमार वर्मा द्वारा लिखी गई 'सुन्दरी' उपन्यास में उपन्यासकला की दृष्टि से आगे के विकास के लक्षण मिलते हैं । 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित भट्ट जी की 'हमारी घड़ी' तथा 'रसातल यात्रा' जैसे उपन्यासों के द्वारा हिन्दी में आत्मकथात्मक शैली में लिखे जाने वाले उपन्यासों की शुरुआत होती है ।

उपन्यास की ही तरह 'हिन्दी प्रदीप' में सामाजिक - राजनीतिक समस्याओं तथा पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर लिखे गए प्रहसन तथा नाटक तो छापे ही गए साथ ही इस पत्र ने अनूदित नाटकों को प्रकाशित कर हिन्दी नाट्य साहित्य को भी समृद्ध किया गया।सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं पर लिखे गए नाटकों तथा प्रहसनों में युग की ज्वलंत समस्याओं का चित्रण तो हुआ ही है, इन समस्याओं के समाधान का प्रयास भी किया गया है । 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित कुछ पौराणिक नाटक चरित्र-चित्रण तथा देश-काल आदि की दृष्टि से सशक्त होते हुए भी रंगमंच की दृष्टि से कमजोर हैं ।

गद्य की विविध विधाओं को प्रकाशित करने के साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' ने ऐसी कविताओं का प्रकाशन भी किया जो समसामयिक राजनैतिक - सामाजिक समस्याओं से

जुड़ी है । लोक भाषा में लिखी गई इन कविताओं में बड़ी बोली का पुट भी है ।
'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित अधिकांश कविताओं का मुख्य स्वर राजनैतिक है ।

'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य का अध्ययन करने के बाद इसी अध्याय के अन्तर्गत उक्त पत्र की भाषा पर भी संक्षिप्त विचार किया गया है । 'हिन्दी प्रदीप' के आरम्भिक अंकों में प्रकाशित सामग्रियों की भाषा में पुरानापन अधिक है । यह पुरानापन शब्द-रूपों, क्रियापदों तथा कारक-चिह्नों में निहित है । सन् 1890 के बाद की भाषा में शब्दरूपों के साथ ही वाक्य विन्यास में भी स्थिरता आने लगती है तथा भाषा में भी एक सहज प्रवाह मिलता है । उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग बढ़ जाता है । भाषा टकसाली रूप में ढलने लगती है, जिसका विकास द्विवेदी युग में होता है ।

'हिन्दी प्रदीप' आरम्भिक युग का प्रतिनिधि मासिक पत्र था । 33 वर्षों के लम्बे जीवन काल में, इस पत्र में साहित्य, विभिन्न विधाओं में प्रधानता के साथ छापा गया । उसके गम्भीर तथा विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण के लिए लम्बे समय तथा श्रम की आवश्यकता है । किन्तु पृष्ठ-सीमा तथा समय की सीमा के कारण इस लघु - शोध - प्रबंध में मुझे उस युग में प्रकाशित होने वाली अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं का सामान्य परिचय देकर ही संतुष्ट हो जाना पड़ा है, साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित साहित्य की विभिन्न विधाओं का संक्षिप्त विश्लेषण ही कर सकी हूँ । जब कि आवश्यकता यह है कि 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित सामग्रियों का विस्तृत विवेचन और विश्लेषण किया जाय जिसके अन्तर्गत न सिर्फ विषय वस्तु का विवेचन तथा विश्लेषण हो बल्कि भाषा के विकास की दृष्टि से भी इसका अध्ययन उतना ही आवश्यक है । इसके साथ ही 'हिन्दी प्रदीप' में छपने वाली साहित्य से इतर ज्ञान-विज्ञान की सामग्रियों पर भी प्रकाश डालने की जरूरत है । फिर भी जितना विश्लेषण किया गया है, वह उस बड़े अध्ययन की पीठिका तो तैयार करता ही है, जिसकी आज अत्यधिक आवश्यकता है ।

इति

—

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञानपीठ लिमिटेड, बनारस, सं० 2010
कृष्णाचार्य	हिन्दी के आदिमुद्रित ग्रंथ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966
डा० कृष्ण बिहारी मिश्र	हिन्दी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1968
के० दामोदरन	भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस
डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	हिन्दी की गद्य शैली का विकास, नागरी प्रचारिणी सभा
शंकरलाल शर्मा तथा बनारसी दास चतुर्वेदी	बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, कलकत्ता, 2007 वि०
ताराचंद	भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास
सं० देवीदत्त शुक्ल तथा धनञ्जय भट्ट 'सरल'	भट्ट निबंधावली, भाग-1, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, नवाँ संस्करण, 1971
सं० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोश, भाग-II, ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी, सं० 2020
डा० निर्मला जैन	हिन्दी आलोचना बीसवीं शताब्दी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1975
श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय तथा श्री दिनेश नारायण उपाध्याय	प्रेमधन सर्वस्व, भाग-2, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० 2007
पं० बालकृष्ण भट्ट	दमयन्ती स्वयंवर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० 1999
	सौ अजान एक सुजान, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, चौदहवाँ संस्करण, सं० 2013
	नूतन ब्रह्मचारी, अहियापुर, प्रयाग, 1968
	साहित्य सुमन

विपन चन्द्रपाल, अमलेश त्रिपाठी, बरुण डे	स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट, तीसरा संस्करण, 1977
ब्रजरत्न दास	भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-2, नागरी प्रचारिणी सभा, सं0 2000
	भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-3, नागरी प्रचारिणी सभा, सं0 2000
डा0 भगवानदास माहौर	1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, सन् 1976
डा0 मधुकर भट्ट	पं0 बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व, बालकृष्ण प्रकाशन, 1972
मार्क्स एंगेल्स	उपनिवेशवाद के बारे में, प्रगति प्रकाशन, मास्को, दूसरा संस्करण, 1973
रजनी पामदत्त	भारत : वर्तमान और भावी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दूसरा संस्करण, 1976
आ0 रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, अठारहवाँ संस्करण, सं0 2035
डा0 रामविलास शर्मा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, 1966
	भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, 1975
	महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, 1977
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य, हिन्दी परिषद प्रकाशन, चौथा संस्करण, 1971
बाबू शिवनंदन सहाय	हरिश्चन्द्र, हिन्दी समिति, दूसरा संस्करण, 1975
शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'	भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-1, नागरी प्रचारिणी सभा, सं0 2027

बाबू श्यामसुन्दर दास	राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, भाग-1, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1930
डा0 सुरेशचन्द्र शुक्ल 'चन्द्र'	प्रतापनारायण मिश्र : जीवन और साहित्य, अनुसंधान प्रकाशन
आ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, यू0 सी0 कपूर एण्ड सन्ज़, 1969
Dr. Ram Ratan Bhatnagar	The rise and growth of Hindi Journalism, Kitab Mahal, Allahabad, 1947
S. Natrajan	A History of the press in India, Asia Publishing House, Bombay, 1962

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी प्रदीप

ब्राह्मण

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

सरस्वती

आलोचना

—